भारतीय साहित्य के निर्माता

वैयाकरण पतंजलि

सुधाकर मिश्र

वैयाकरण पतंजलि

वैयाकरण पतंजलि

लेखक

डॉ. सुधाकर मिश्र

साहित्य अकादेमी

दो शब्द

महाभारत के शांतिपर्व के अंतर्गत मोक्षधर्मपर्व के हंस गीता में साध्य ने पूछा—

किं ब्राह्मणानां देवत्वं किं च साधुत्वमुच्यते।
असाधुत्वं च किं तेषां किमेषां मानुषं मतम्॥ 43 हंसगीता

हंस ब्राह्मणों का देवत्व क्या है। उनमें साधुता क्या बताई जाती है। उनके भीतर असाधुत्व एवं मनुष्यत्व क्या है। वहाँ पर हंस ने उत्तर दिया—

स्वाध्याय एषां देवत्वं व्रतं साधुत्वमुच्यते।
असाधुत्वं परीवादो मृत्युर्मानुष्यमुच्यते॥ 44 हंसगीता।

हे साध्य गणों सुनो वेद शास्त्रों का स्वाध्याय ही ब्राह्मणों का देवत्व है। उत्तम व्रतों का पालन ही साधुता बताई गई है। दूसरों की निंदा करना ही उनकी असाधुता है और मृत्यु को प्राप्त करना ही उनकी मनुष्यता बताई गई है। उपरोक्त महाभारत के वचन का समस्त सत् पक्ष महर्षि पतञ्जलि की जीवनचर्या में पद-पद दृष्टि गत होता है। व्याकरण योग तथा आयुर्वेदादि समस्त विषयों में निपुण हमारे आचार्य पतञ्जलि जगत् के समस्त व्यक्ति को सदैव तत्पर रहने का निर्देश देते है। आलस्य का इनके जीवन में क्षणमात्र भी निवेश नहीं है। महाभाष्य में आचार्य व्याख्यान काल में पुनः पुनः एक ही शब्द का बिना आलस्य किए निर्वचन करते ही रहते हैं। वेद के सरंक्षण में आचार्य का दृढ़ संकल्प भी अभिलक्षित होता है। आचार्य का दर्शन परम भौतिकता की पराकाष्ठा को स्पर्श करता हुआ परमपुरुषार्थ मोक्ष पर्यात चिंतनों का वर्धन करता है। योग शास्त्र शरीर के बाह्य एवं आंतरिक दोनों प्रकार के संरक्षण का पथ प्रदर्शक है। शब्दानुशासन भी बाह्य एवं अंतः दोनों का प्रदर्शन स्वतः प्रमाण पूर्वक करता है।

अपि प्रयोक्तु रात्मानं शब्दमन्तरवस्थितम्।
प्राहुर्महान्तमृषभं येन सायुज्यमिष्यते ॥131 ॥
सर्वोऽदृष्टफलानर्थानागमात्प्रतिपद्यते।
विपरीतं च सर्वत्र शक्यते वक्तु मागमे ॥141
शब्द संस्कार ब्रह्म तादात्म्य का उपाय है।
तस्माद्यः शब्दसंस्कारः साः सिद्धिः परमात्मनः।
तस्य प्रवृत्तितत्त्वज्ञस्तद् ब्रह्मामृतमश्नुते ॥132

आयुर्वेद ने तो समस्त जगत् के वृक्षों के संरक्षण का तथा प्राकृतिक वस्तुओं के सुरक्षा का पथ प्रदर्शक है। आयुर्वेद का यदि सत्य कोई ज्ञाता हो तो केवल भोजन के व्यवस्थित ग्रहण करने तथा जलपान मात्र से ही जीवन में 80 प्रतिशत रोग दोषादि का प्रवेश नहीं हो सकता। शेष तो नीम, अर्जुन, तथा अन्यान्य वृक्ष सामान्य के सेवन तथा फलों के उपयुक्त प्रयोग पद्धति से भी असाध्य से असाध्य रोगों का भी परिहार किया जा सकता है।

कायवागबुद्धिविषया ये मलाः समवस्थिताः।
चिकित्सालक्षणाध्यात्मशास्त्रैस्तेषां विशुद्धयः147
वाक्यपदीयम् ब्रह्मकाण्डम्।

—सुधाकर

अनुक्रम

मङ्गलाचरण

वार्तिककारं वररुचिं भाष्यकारं पतञ्जलिम्।
पाणिनिं सूत्रकारञ्च प्रणतोस्मि मुनित्रयम्॥
योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोस्मि॥
पातञ्जलमहाभाष्यचरकप्रतिसंस्कृतैः।
मनोवाक्कायदोताणां हन्त्रेहितपतये नमः॥

जीवन परिचय

आर्यावर्त (भारतराष्ट्र) मानव जीवन के प्रारंभ के पश्चात् से ही आध्यात्मिकता की मातृभूमि रही है। फलतः यहाँ पर परंपराएँ भी प्रचलित हैं। यहाँ पर बहुत बड़े-बड़े ऋषि मुनि शिक्षक अवतार या जन्म लिया करते हैं। चित्र विवित्र धारावाहिक प्रवाह नित्यता के नित्य क्रम में समयानुसार परमप्रभु केवल एक ही वस्तु हेतु नहीं अपितु जागतिक जितनी भी वस्तुए तन्निर्मित विद्यमान है उन सभी का भरण पोषण एवं उन्नयन स्वतः ही साधता रहता है। हमारे भारतीय आस्तिक दर्शनों का प्रत्यक्ष उद्घोष है कि वह परमब्रह्म ही "एकोऽहं बहुस्याम इति" इस दृष्टि से स्वयं हि उद्भूत होता रहता है। उसी बात का समर्थन सांख्य न्याय मीमांसा योग वैशेषिकादि भी करते हैं। उस दर्शन के समस्त पारंपरिक तथ्यों का, समस्त विधा विधाओं का भी निमित्तभूत वहीं ही परमब्रह्म है। भर्तृहरि ने व्याकरणशास्त्रीय दार्शनिक ग्रंथ वाक्यपदीयम ब्रह्मकांड में प्रवल उद्घोष किया है। जैसे—

अनादिधिनं ब्रह्म शब्ददत्त्वं यदक्षरम्।
विविर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥1.1

एकमेव यदाम्नातं भिन्नं शक्तिव्यपाश्रयात्।
अपृथक्त्वेऽपि शक्तिभ्यः पृथक्त्वेनेव वर्तते ॥1.2
अध्याहितकलां यस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः।
जन्मादयो विकाराः षड् भावभेदस्य योनयः ॥1.3

भेदानां बहुमार्गत्वं कर्मण्येकत्र चाङ्गता।
शब्दानां यत्शक्तित्वं तस्य शाखासु दृश्यते ॥1.6

विधातुस्तस्य लोकानामङ्गोपाङ्गनिबन्धनाः।
विद्याभेदाः प्रतायन्ते ज्ञानसंस्कारहेतवः ॥1.10

आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः।
प्रथमं छन्दसामङ्गं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः ॥1.11

अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां शब्दा एव निबन्धनम्।
तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते ॥1.13

उपरोक्त महिमा विशिष्ट व्यारकण शास्त्र की अनादि परंपरा के मध्यकालीनोद्धर हेतु परमतपस्वी महर्षिशब्दावतार पाणिनि के द्वारा लगभग चार हज़ार सूत्र का निर्माण कराकर सुप्त चेतना का जागरण जगदीश ने कराया। उस चेतना के चाक-चिक्य हेतु ऐतिह्य प्रमाणानुसार महर्षि कात्यायन का आविर्भाव परिरक्षित माना जाता है। उन्होंने भी अपने वार्तिकों के रचनाक्रम से शब्दानुशासनात्मक पदशास्त्र का परिवर्द्धन किया। परंतु सूत्रकार एवं वार्तिककार ने परम गूढतत्त्वों का रहस्योद्घाटन न होने के कारण कुछ समय पश्चात् ही महर्षि-पतञ्जलि का प्राकट्य सुनिश्चित किया गया। इस प्रक्रम के समर्थन में ''उत्तरोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्'' प्रसिद्धोक्ति भी प्रमाण है। उक्त उक्ति का तात्पर्य यह है कि पूर्व पूर्व ऋषिओं के वचन में ही उत्तर उत्तर ऋषियों का तात्पर्य समझना चाहिए। अवतार भूत तत्त्वों के रहस्य के विषय में श्रीमद्भगवदगीता में भी अभिहित है कि—

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥10.39

यद् यद्विभूतिमत् सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽंशसम्भवम् ॥10.41

उस उपक्रम का प्रवाह पावन करने वाले महर्षि पतञ्जलि के काल देश परिस्थिति इत्यादि का विचार भी भौतिक स्तर पर परमावश्यक प्रतीत होता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि के काल निर्णय के विषय में दृढ़ साधन उपलब्ध है। भगवान पाणिनि भूतकाल में तीन लकारों का विधान किया है लुङ्, लङ्, लिट्। भूतसामान्य अर्थ में लुङ् लकार का, अनद्यतन भूतार्थ में लङ्लकार का, परोक्षानद्यतन अर्थ में लिट् लकार का। आचार्यकात्यायन 'अनद्यतने लङ्' सूत्र में लिखा 'परोक्षे च लोक विज्ञाते प्रयोक्तु दर्शनविषये इति'। उसके उदाहरण प्रत्युदाहरण विषय में लिखा अरुणद्यवनः साकेतम्। अरुणद्यवनो माध्यमिकाम्। प्रयोक्तुर्दर्शन विषये इति किम्। जघान कंसं किल वासुदेवः। इस प्रकार कैयट ने यह व्याख्यान दिया। अननुभूतपदार्थ प्रत्यक्ष योग्यता मानकर दर्शन की विषयता मानने पर कोई विरोध नहीं है।

आचार्य नागेश ने भी इसी बात का समर्थन किया है। भाष्य में 'जघान' यह जो प्रयोग मिलता है वह वर्तमान लोगों के दर्शन का विषय नहीं है। अरुणद् इस उदाहरण में तुल्य काल प्रवक्ता मानना चाहिए। संपूर्ण का यह तात्पर्य है कि जो घटना स्वयं न देखी हो परंतु स्वकाल जातों के दर्शन योग्य तथा लोक प्रसिद्ध हो यदि इस प्रकार के बोध करने की इच्छा हो तो आचार्य पाणिनि की रीति से परोक्ष मानकर लिट् लकार का प्रयोग करना चाहिए। परंतु ऐसे स्थलों पर लङ् लकार का प्रयोग करना चाहिए ऐसा वार्तिककार का अभिमत है। वहीं पर भाष्यकार ने अरुणद्यवनः साकेतम्, अरुणद्यवनो माध्यमिकाम् इस प्रकार दो उदाहरणों को दिया। यद्यपि यवनों ने साकेत (अयोध्या) गमन में विरोध किया। माध्यमिको का अवरोध दृष्टि गत होता है। यह अवरोध पतञ्जलि के काल में नहीं था जिसका दर्शन वे स्वयं नहीं किए थे। तथापि पतञ्जलि समसामयिक एवं दर्शन योग्य, लोकप्रसिद्ध मानकर लङ् लकार का प्रयोग एवं उदाहरण आचार्य ने दिया। यह साकेतावरोध तथा माध्यमिकावरोध कब हुआ यह इतिहासकार लोग ही जानते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से यीशुख्रीष्ट से 327 वर्ष पूर्व अलेग्जेंटर का आक्रमण माना जाता है। उसके पश्चात चंद्रगुप्त के राज्य काल में सील्यूकस् नामक यवन भारत में आक्रमण किया। चंद्रगुप्त पराजित होकर अपनी कन्या सिल्यूकस को दिया यह प्रसिद्ध घटना है। उसी ही सिल्यूकस् नामक यवन का उत्तराधिकारी मीनांडर नामक अन्य यवन पुष्यमित्र के राज्य में आक्रमण किया। वह स्वयं मथुरा पर्यंत ही आया परंतु उसकी सेना तथा सेनानायक अयोध्या को जीत कर पूर्व दिशा में बहुत दूर तक आक्रमण किया। तत् पश्चात वे वहाँ नहीं रह सके तथा लौट गए। (सोऽयं साकेतावरोधः)

यहीं साकेतावरोध नाम से प्रसिद्ध है। उसके सेना ही एक टुकड़ी चित्रकूट प्रांत में भी गई। तत् समीपवर्ती माध्यमिक नगरी भी उनके द्वारा जीत ली गई यह इतिहास प्रसिद्ध घटना है। इनके आक्रमण की घटना हमारे गर्गसंहिता में वर्णित है। वहाँ पर मेनंद्र यह नाम मीनांडर नाम से प्रसिद्ध है। भारतीयों का मानना है कि वे संस्कृति के आधार पर ही उसके नाम से परिचित हुए। मथुरा प्रांत में मेनंद्र नाम भी खरोष्टी लिपि में मुद्रित पाया जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि पुष्यमित्र के राज्य काल में साकेतावरोध एवं माध्यमिकारोध प्रसिद्ध है। वहीं ही महाभाष्यकार का समय माना जाता है। महाभाष्य में पुष्यमित्रं यजामहें यह उदाहरण भी मिलता है। इस उदाहरण से स्पष्ट होता है कि पुष्यमित्र इनके पुरोहित थे। यह बहुतों का मानना है। राजसभा, चंद्रगुप्तसभा, इत्यादि उदाहरणों से सिद्ध होता है कि चंद्रगुप्त के परवर्ती रूप में इनका स्वीकार है। पुष्यमित्र का समय वर्तमान ऐतिहासिक यीशुख्रीष्ट से पूर्व द्वितीय शताब्दी मानते है। पौराणिक दृष्टि ये यीशुख्रीष्ट से हज़ारों वर्ष पुराने पुष्यमित्र मानते हैं यह मतभेद है। उपर्युक्त व्याख्यान से स्पष्ट होता है कि पुष्यमित्र शासन कालिक ही माने जाते है। सारांशतः महाभाष्यकार पतञ्जलि के जीवन काल का निर्धारण सहज भाव में कर पाना संभव नहीं है किंतु इतिहासकारों का सम्मान करते हुए यदि देखा जाए तो पाश्चात्य विद्वान् जे.एच.बुड 300 से 500 ए.डी. के मध्य मानते हैं। एस.एन. दास गुप्ता भी 300 से 500 के बीच ही स्वीकार करते हैं। युधिष्ठिरमीमांसक महोदय ने तो 10 पाणिनि सूत्रों के उदाहरणों के आधार पर बहुत ही प्रामाणिक ढंग से निरूपण का प्रयास किया है। जैसे—

1. अनुशोणम् पाटलिपुत्रम् (2.1.15)
2. जेयो वृषलः (1.1.50)
3. काण्डीभूतं वृषलकुलम्, कुड्यीभूतं वृषलकुलम् (6.3.61)
4. मौर्य्यैहिरण्यार्थिभिरर्चाः प्रकल्पिताः। (5.3.99)
5. अरुणद् यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनः माध्यमिकाम् (3.2.111)
6. पुष्यमित्रसभा, चंद्रगुप्तसभा (1.1.68)
7. महीपालवचः श्रुत्वा जुघुषुः पुष्यमाणताः। एष प्रयोग उपपन्नो भवति। (7.2.23)
8. इह पुष्यमित्रं यजमानः (3.2.123)
9. पुष्यमित्रो यजते, याजकाः यजन्ति। (3.1.26)
10. यदा भवद्विधः क्षत्रियं याजयेत्। यदि भवद्विधः क्षत्रियं याजयेत्। (3.3.147)

इनके अनुसार सारांशतः विक्रम पूर्व 2000 माना जाना चाहिए। पतञ्जलि के ही नहीं अपितु समस्त वैयाकरणों के विषय में व्याकरणशास्त्र का इतिहास अतीव महत्त्वपूर्ण एवं दर्शनीय ग्रंथ है। काल विषयक समस्यात्मक एवं संदेहात्मक चिंतन केवल आचार्य पतञ्जलि मात्र में ही नहीं अपितु अन्यान्य ऋषि तथा कवियों के विषय में भी यथावत है। अतः चिंतन का विषय है। क्यों कि कोई उदाहरण, या लिखित चर्चा उसके देश, काल, परिस्थिति का यथार्थ निर्धारक नहीं होता।

और भी सामान्यतया कुछ कथाएँ आचार्य के जीवन चर्चा के साथ जुड़ी हैं।

जैसे—एक बार माता गोणिका प्रातः काल भगवान् सूर्य को सूयार्घ्य दे रहीं थी उसी समय उनके हाथ में एक सर्प आ गिरा, गोणिका भयाक्रांत होकर पूछी कोर्भवान्। सर्प ने उत्तर दिया सप्पोऽहम्। पुनः गोणिका ने पूछा। रेफः क्वगतः। त्वया अपहृतः। इस प्रकार से आविर्भाव का एक और भी कथानक उपलब्ध होता है।

बालमनोरमाकार ने 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' वार्तिक में पतञ्जलिः यह उदाहरण को आधार बनाकर लिखा कि गोनर्द नामक देश में किसी ऋषि के सन्ध्योपासन काल में अञ्जलि में गिर गया था जिससे अञ्जलेः पतन् इति पतञ्जलि ऐसा उपख्यान भी प्राप्त होता है।

देश :—

महर्षि पतञ्जलि का देश गोनर्द है यह बात स्वयं महाभाष्यकार स्व मत का अभिनिवेश करते हुए लिखा है ''गोनर्दीस्त्वाह''। कुछ आचार्य इस मत को अन्य आचार्यो का मत मानते हैं कि वे लोग गोनर्दीय यह कहते हैं। परंतु परमप्रामाणिक आचार्यों ने गोनर्दीय इस मत का परम प्रमाण के साथ भाष्यकार का ही मत स्वीकृत किया है। हम लोग भी भाष्यकार की शैली को देखकर भाष्यसमर्थक व्याख्याकारों का ही मत मानते हैं। इससे सिद्ध होता है कि भाष्यकार के पूर्वज लोग भी गोनर्द देश के निवासी थे। बहुत आचार्यो का तात्पर्य गोनर्द से तात्पर्य वर्तमानकालीन गोड़ा ज़िले से है जो कि उत्तरप्रदेश में अयोध्या के साथ जुड़ा है। यद्यपि पुष्यमित्र की राजधानी पाटलिपुत्र थी फिर भी वे अयोध्या में भी राज्य किए थे यह इतिहासकारों का मन्तव्य है।

गोनर्द निवासी महर्षि पतञ्जलि का वहीं पर ही उनके साथ संबंध हुआ। पुष्यमित्र ने अश्वमेधयज्ञ तथा राजसूययज्ञ का संपादन किया यह प्राप्त अभिलेखो

से तथा हरिवंशपुराणादि से भी प्रमाणिक होता है। इस प्रकार के विशाल याज्ञिक अनुष्ठान में महर्षि पतञ्जलि न रहे हो ऐसा कहना बहुत मुश्किल होगा। कुछ अन्य आचार्य गोनर्द को उज्जयिनी प्रांत के समीप मध्यप्रदेश में स्वीकार करते हैं। जिसका प्राकृतिक नाम (स्वाभाविक नाम) गोनद्ध यह था। व्यापारियों का यह प्रसिद्ध केंद्र स्थान था। पुष्यमित्रादियों का शुङ्गवंशी इत्यादियों का मूल स्थान विदिशा नगरी थी। जिसे आज के दिन में ग्वालियर में भिलसा नाम से कहा जाता है। वह उनके पूर्वजों का स्थान था तथा पतञ्जलि एवं पुष्यमित्र का अति प्राचीन संबंध था यह भी अभिप्राय संगत होता है। काशिकादि ग्रंथों में गोनर्द की परिकल्पना प्राग्देश में ही की गई है। अत: तत् प्रमाण से वर्तमान गोड़ा ही गोनर्द नाम से प्रसिद्ध था है तथा रहेगा यह हम सभी का मत है। उपरोक्त दृढ़ प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि भगवान पतञ्जलि पुष्यमित्र कालीन तथा गोड़ा ज़िले के निवासी के रूप में सुनिश्चित है। इतने के बाद भी कुछ विद्वान् इसका अन्यथा उपस्थापन करते हैं।

सामश्रमी महोदय का यह मानना है कि अलक्जेंडर के काल के पूर्व ही बुद्धकाल के कुछ पश्चात् शताब्दी (5 शताब्दी) पतञ्जलि का कार्यकाल माना जा सकता है। उसमें ये समस्त प्रमाण प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

1. अभिमन्यु के शासन काल में चंद्राचार्यादि विलुप्त प्राय महाभाष्य नामक एक सुदुर्लभ ग्रंथ काश्मीर से लाकर प्रचार-प्रसार किए यह बात राजतरङ्गिणी नामक पुस्तक में बताया गया है। जैसे कि—

चंद्राचार्यादिभिर्लब्ध्वादेशं तस्मात्तदागमम्।
प्रवर्तितं महाभाष्यं स्वं च व्याकरणं कृतम्॥

राजतरङ्गिणीतरङ्ग 1 श्लोक 176।

भर्तृहरि ने वाक्यपदीयम् में कुछ विशेष ही कहा है।
पर्वतादागमं लब्ध्वा भाष्यबीजानुसारिभि:।
स नीतो बहुशाखत्वं चंद्राचार्यादिभि: पुन:॥

वाक्यपदीयम् 2/489

अभिमन्यु के शासन काल का निश्चय पाश्चात्य आचार्यो में मतभेद दृष्टिगत होता है। विल्फर्ड महाशय ने 423 वर्ष पूर्व अभिमन्यु के शासन काल को मानते हैं। बोथलिङ्गमहाशय ने यीशु से 40 वर्ष पश्चात् मानते हैं। बोथलिङ् प्रिंसिपल महोदय ने सामश्रमी के मत का ही समर्थन किया है। तथा यीशु ख्रीष्ट से 100 वर्ष

पूर्व दूर दाक्षिणात्य पर्वत प्रांत से महाभाष्य काश्मीर में गई यह भी परिकल्पना है। ऐसे महान ग्रंथ का प्राच्य देश में रचित दक्षिण पर्वत प्रदेश में उस समय प्रचार था जिस समय किसी प्रकार का गाड़ी, अन्य संसाधनादि न था। उसके पश्चात् उसका विलोप हो गया। इस प्रकार ही घटना के लिए तीसरी तथा चौथी शताब्दी में ही घट सकती है। इसलिए यीशु से पूर्व पाँचवीं शताब्दी में ही घट सकती है। इसलिए यीशु से पूर्व पाँचवीं शताब्दी से परवर्ती ही महाभाष्यकार का समय कभी नहीं हो सकता है।

2. सङ्कलादिभ्यश्च (पा. सू. 4.2.7.5) सूत्र में भगवान पाणिनि साकलनगर की सत्ता प्रकट ही है। इस नगर को अलक्जेंडर ने आक्रमण करके नाश किया था ऐसा इतिहासकारों का मानना है। महाभाष्यकार ने उस नगर के विनाश के विषय में कुछ भी चर्चा नहीं किया यदि महाभाष्य के पूर्व में ऐसी घटना घटती तो महाभाष्यकार अवश्य ही उस घटना का वर्णन करते।

3. अलेक्जेंडर ने पञ्चनदप्रदेश (पञ्जाब) में क्षुद्रक इस नाम से प्रसिद्ध युद्धप्रवण जाति को जीता था ऐसा यवन ऐतिहासिको का मानना है। इसका वर्णन एक उदाहरण में प्राप्त होता है। जैसे "एकाकिभिः क्षूद्रकैर्जितम्" यदि अलेक्जेंडर के आक्रमणोपरांत महाभाष्य की रचना मानी जाय तो शीघ्र ही नष्ट जाति का विजयशील रूप में वर्णन न प्राप्त होता। इसलिए अलेक्जेंडर के आक्रमण के पूर्व ही महाभाष्य की रचना माननी चाहिए। जिन उदाहरणों के महाभाष्यकार ने महाभाष्य में उद्धृत किया है। पुष्यमित्रं यजामहे। चंद्रगुप्तसभा, 'पुष्यमित्रसभा, अरुणद्यवनः साकेतम्' इत्यादि उनकी अपनी परिकल्पना ही मानी जा सकती है। ऐसा सामश्रमी महोदय का भी मानना है। जैसे व्याकरण में यज्ञदत्त देवदत्तादि नाम कल्पित ही उपलब्ध होते हैं। उसी प्रकार अन्य उदाहरणों को भी समझना चाहिए। परवर्ती काल में उस नाम के राजा भी उत्पन्न हुए यह भी कल्पना की जा सकती है। पुष्यमित्र यीशु से पूर्व द्वितीय शती में उत्पन्न हुए यह इतिहासकारों का मंतव्य है। तत्कालीन एक सौ वर्ष में महाभाष्य का प्रचार तथा विलोप होना संभवन नहीं है यह अतियुक्ति नहीं होगी अतः पुष्यमित्र के कार्यकाल में भाष्य का निर्माण स्वीकार योग्य नहीं है। महाभाष्य में 'अनुशोणं पाटलिपुत्रम्' इत्यादि उदाहरण भी दृष्टिगत होते हैं। कुसुम पुर पर ही अपर नाम पाटलिपुत्र गौतमबुद्ध के कार्यकाल में ही निवास योग्य प्रसिद्ध था। महात्माबुद्ध ने यह आशीर्वाद दिया था कि आगामी भविष्यतकाल में यह महान नगर होगा। यह नगर पहले शोणनदी के तट पर विद्यमान था परवर्ती काल में गङ्गा

के किनारे स्थित पाटलिपुत्र कालिक महाभाष्य की रचना माना जाए तो महाभाष्य की अर्वाचीनता संभव नहीं हो सकती है। परंतु सामश्रमी महोदय की युक्तियाँ उपदर्शित दृढ़तर युक्तियों के आगे टिक नहीं सकती है। पुष्यमित्र चंद्रगुप्त का नाम स्पष्ट रूप में महाभाष्य में प्राप्त होता है। पुष्यमित्र का यज्ञयागादि कर्म भी महाभाष्य के आधार पर ही प्रसिद्ध होता है। यवन कृत साकेतावरोध माध्यमिकावरोध जो इतिहासकार प्रमाणित करते हैं। वे सभी पक्ष परिकल्पित उदाहरण रूप में दिए गए हैं यह प्रेक्षाकारी लोगों का कहना है। परंतु उपरोक्त आलाप से तो किसी भी ग्रंथ का काल निश्चय कर पाना असंभव होगा। इस प्रकार के उच्छृंखल एवं परिकल्पको की कमी किसी भी क्षेत्र में कम नहीं दिखाई देती। इसलिए वे उक्तियाँ प्रवलतर माननी चाहिए। ''संकलादिभ्यश्च'' इस भाष्य की दृष्टि किसी भी प्रकार का उदाहरण नहीं दृष्टिगत होता है। भाष्यकार ने नगर ध्वंस का विवेचन उस सूत्र में नहीं किया अत: तत्कालीन यह ग्रंथ नहीं है यह कहना संभव नहीं है। महाभाष्य कोई ऐतिहासिक ग्रंथ नहीं है कि वहाँ पर उस प्रकार की घटनाओं का वर्णन किया जाए। इतिहासकारों ने क्षूद्रक जाति के विषय में अनावश्यक रूप से प्रमाणित करने का प्रयास किया है। मालव एवं क्षूद्रक दो जातियाँ पञ्जाब राज्य में प्रसिद्ध थी। उन दोनों जातियों का युद्ध में सहयोगी रूप में वर्णन प्राप्त होता है। परंतु अलेक्जेंडर के आक्रमण काल में दोनों ने सहयोग नहीं किया। अत: मालव लोग पृथक् भाव से युद्ध किए। इनसे क्षूद्रक लोग पृथक् थे। जिन लोगों का यह मानना था कि ये जातियाँ युद्ध में समाप्त हो गई उनका यह मानना भी उचित नहीं है। क्योंकि परवर्ती काल में उस जाति के लोगों को निवास अन्यत्र दृष्टिगत होता हे। इतिहासकार जायसवालमहोदय ने क्षूद्रक जाति सर्वथा पराजित हुई थी ऐसा नहीं मानते। यद्यपि यूनान देश के इतिहासकार स्वलिखित इतिहास में क्षूद्रक जाति के पराजय प्रसंग को लिखते हैं। इतिहासकार यह भी लिखते है कि युद्धोपरांत क्षूद्रक जाति को ससम्मान सभा में भोजन पानी आदि यूनानदेश निवासी कराते थे। किंतु पराजितों का इस प्रकार का सम्मान कभी भी संभव नहीं प्रतीत होता। अत: स्पष्ट होता है कि युद्ध में संधि की परिकल्पना करनी चाहिए। यवन इतिहासकार लोग यह लिखते हैं कि यवन की विजय तथा भारत में क्षूद्रक जाति की विजय ऐसा मानना चाहिए। भारतीय इतिहासकारों का मत लेकर ही आचार्य पतञ्जलि लिखते हैं ''एकाकिभि: क्षूद्रकैर्जितम्'' महान शक्तिशाली महाबीर के साथ संधि करना भी विजय के तुल्य है। एकाकिभि: यह पद उनके अकेलेपन का बोधक है अर्थात् उनका मालवराज्य

के साथ कोई भी सहयोग नहीं था। यह वाक्य अलेक्जेंडर के युद्ध का स्मारक भी है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि अलेक्जेंडर के युद्धोपरांत महाभाष्य विस्तार को प्राप्त हुआ। पाटलिपुत्र भी विशाल नगर था। क्योंकि एक ऐसा उदाहरण भी प्रसिद्ध है कि ''मङ्गाशोणसङ्गमसन्निधाने निवासितम् अनुशोणम् इति अनुगङ्गम्''। गङ्गाशोण संगम जहाँ पर था वहाँ से आज पश्चिम दिशा में आ गया यह भी प्राचीन घटनाओं से सिद्ध होता है। अतः तत्कालीन स्थिति के आधार पर अनुशोणम् सह उक्ति विरुद्ध नहीं है। राजा अभिमन्यु के शासन काल में महाभाष्य ग्रंथ का गमन सिद्ध होता है। परंतु अभिमन्यु का ही शासन काल सिद्ध नहीं है तो महाभाष्यकार का कार्यकाल कैसे निश्चित किया जाए। यदि इतिहासकार लासेन का मत माना जाए तो यीशु ख्रीष्ट के पश्चात् अभिमन्यु का राज्यकाल माना जाए तो पुष्यमित्र के पश्चात् दो तीन शताब्दी का व्यवधान संभव है। कल्हण रचित राजतरंगिणी में अथवा भर्तृहरि के वाक्यपदीयं में महाभाष्य के प्राचारोपरांत कहीं भी उस महान् ग्रंथ का विलोप वर्णित नहीं होता। पूर्व देशों में प्रचार तदनंतर विलोप यह केवल कल्पना मात्र ही है। यह भी संभव हो सकता है कि पहले महाभाष्य का प्रचार नहीं हुआ था। ऐसा भी माना जाता है कि आचार्यपतञ्जलि के शिष्यों ने गुरु से महाभाष्य का अध्ययन करके अन्य प्रदेशों में भी ग्रंथ को प्रचारित प्रसारित किया। किसी प्रकार से चंद्राचार्यादिओं ने प्राप्त किया। प्रचार भी इन्हीं आचार्यों ने ही किया। ऐसी परिकल्पना में एक सौ वर्ष मात्र का व्यवधान मानना उचित भी लगता है। इस प्रकार किसी भी प्रकार का दृढ़ प्रमाण न होने के कारण आनुमानिक प्रमाण भी दुर्बल माना जाए उसकी अपेक्षा पुष्यमित्र का शासनकाल ही महर्षिपतञ्जलि का काल मानना उचित होगा।

प्रोफ़ेसर अभिराज राजेंद्र मिश्र जी के मतानुसार महर्षि पतञ्जलि का परिचय

अंग्रेज़ों से पूर्व संस्कृत वाङ्मय भले ही अल्पज्ञात रहा हो अल्प प्रचारित रहा हो परंतु था वह विवाद मुक्त। अनेक आचार्यो कवियों नाट्यकारों तथा ग्रंथों के विषय में किंवदंतियाँ भी प्रचलित थी। परंतु उन किंवदंतियों की भी प्रतिष्ठा यथार्थ के समकक्ष ही थी। क्योंकि ''नाऽमूलाजनश्रुतिर्भवति'' के प्रामाण्य से उन जनश्रुतियों में श्रद्धा योग्य सत्यांश निहित था। परंतु 1984 के अनंतर संस्कृत वाङ्मय के अध्ययन अध्यापन गवेषणा प्रकाशन एवं अनुसंवादादि का दायित्व पाश्चात्य मनीषियों के हाथ आने पर संपूर्ण परिदृश्य ही बदल गया। ये पाश्चात्य मनीषी ग्रंथों ग्रंथकारों तथा उनमें निहित विलक्षण अलभ्य अनितर साधारण ज्ञान के प्रति बेहद आकृष्ट थे परंतु भारतीय मिथकीय पृष्ठभूमि, परंपरा तथा जनश्रुतियों के प्रति उनका आदरभाव नहीं था। यहीं कारण था कि वे श्रद्धाभिभूत होकर नहीं प्रत्युत द्वैधग्रस्त होकर ही सारा कार्य करते थे। फलतः उन्होंने अपने लेखन से शंकाओं, संदेहों, विकल्पों तथा समस्याओं की एक चितसारी ही रच दी तथा समूचे संस्कृत वाङ्मय को अनिश्चितता के कुचक्र में मठ दिया। 18वीं 19वीं तथा 20वीं शती में नाट्यशास्त्र समस्या, भाससमस्या, पञ्चतंत्र समस्या, अर्थशास्त्र समस्या, कालिदास समस्या,पतञ्जलि समस्या, पुराण समस्या, व्यास समस्या, कलिसंवत समस्या, विक्रमादित्य समस्या, आदि जितनी भी त्रासद समस्याएँ उभरी सब इन्हीं पाश्चात् मनीषियों की देन है। स्वाधीनता प्राप्ति के अनंतर स्वतंत्रचेता संस्कृतज्ञो ने अनेक समस्याओं का समाधान ढूँढ़ लिया। कुछ एक तो नए तथ्यों के उदय से स्वयं निरर्थक सिद्ध हो गईं। परंतु संस्कृतज्ञान से शून्य कुछ भारतीय इतिहासकार अभी भी अंग्रेज़ों के पिछलग्गू बने है। जो ''त्रिमुनि व्याकरणम्'' सुभाषित को जानता है। वह भाष्यकार पतञ्जलि को भी

जानता है। महर्षि पाणिनि (ई.पू. आठवीं शती वासुदेवशरण अग्रवाल) की अष्टाध्यायी पर आचार्यकात्यायन (वररुचि) ने वार्तिक लिखे। (ई.पू. चौथी शती) तथा आचार्य पतञ्जलि ने अष्टाध्यायी तथा वार्तिक पर समवेत रूप से भाष्य लिखा (ईसा पूर्व द्वितीय) में।

सौभाग्यवश महर्षि पतञ्जलि अपने परिचय में स्वयमेव दो विशेषण प्रयुक्त करते हैं। गोणिका पुत्र तथा गोनर्दीय। इनमें प्रथम विशेषण से आचार्य श्री की जन्मदात्री का नाम (गोणिका) तथा दूसरे से उनकी जन्मभूमि (गोनर्द) का संकेत मिलता है। प्रथम विशेषण तो सर्वथा निरापद है। माँ का नाम गोणिका हो या कुछ और क्या अंतर पड़ता है। परंतु जन्मस्थान की भिन्नता से बहुत अंतर आ जाता है। वस्तुतः जिस गोनर्द का उल्लेख आचार्य कर रहे हैं वह या तो उत्तरप्रदेश राज्य का गोण्डा नगर है अथवा मध्यप्रदेश की राजधानी भोपाल का पार्श्ववर्ती गोंदरमऊ ग्राम। दोनों स्थान ही दो राज्यों तथा दो भिन्न-भिन्न दिशाओं से संबद्ध है, तथा निर्णीत सिद्ध हो जाने पर अपने-अपने क्षेत्र की भौगोलिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक महिमा गरिमा को अप्रत्याशित रूप से बहुत बढ़ा देते हैं।

यह तो अंतः साक्ष्य की बात है। यदि बहिः साक्ष्यों पर दृष्टि डालें तो विभिन्न ग्रंथों में उन्हें अन्यान्य नामों से भी संबोधित किया गया है।

ये नाम फणिभृत्, अहिपति, शेषराज, शेषाहि, नागनाथ, चूर्णिकाकार पदकार। प्रस्तुत शोधलेख में इन्हीं प्रमाणों की यथावत् समीक्षा की जा रही है।

1. गोनर्दीयविशेषण का प्रयोग आचार्यपतञ्जलि ने ही नहीं प्रस्तुत औरो ने भी किया है। यादवप्रकाश आदि कोशों में यह शब्द पतञ्जलि के पर्याय के रूप में प्रयुक्त है। वात्स्यायन प्रणीत कामसूत्र में भी किसी गोनर्दीय आचार्य का मत उद्धृत है। स्वयं महाभाष्यकार ने ग्रंथ में चार संदर्भों में स्वयं का गोनर्दीय कहा है। इस प्रकार गोनर्दीय एवं पतञ्जलि दोनों एक ही व्यक्ति सिद्ध होते हैं। परंतु डॉ. कीलहार्न ने गोनर्दीय तथा पतञ्जलि को स्पष्टतः पृथक् एवं दो माना है। प्रेडरिक मैक्समूलर का भी यहीं मत है।
2. डॉ. सत्यकामवर्मा ने वेबर तथा गोल्डस्टूकर के मतों को आदर देते हुए स्वीकार किया है कि महाभाष्यकार काश्मीर के अस्थायी निवासी थे। पाटलिपुत्र में भी उनका सुदीर्घनिवास था। इस प्रकार गोनर्दीय तथा महाभाष्यकार एक ही सिद्ध होते हैं।

3. आचार्यपतञ्जलि ने स्वयं को गोणिका पुत्र भी लिखा है। उभयथा गोणिक पुत्र इति। इस अंश की व्याख्या टीकाकार नागेशभट्ट इस प्रकार करते हैं। गोणिका पुत्रो भाष्यकार इत्याहुः। यहाँ इत्याहुः शब्द साबूत है क्यों कि आहुः क्रिया का कर्ता प्रथमपुरुष बहुवचन ही हो सकता है। इसका निर्गलितार्थ यह हुआ कि गोणिका पुत्र महाभाष्यकारः इत्यन्ये आहुः। यदि नागेश भट्ट स्वयं महाभाष्यकार को गोणिका पुत्र मानते हैं तो अपने कर्तृत्व (उत्तमपुरुष एकवचन) का यथा कथञ्चित उल्लेख करते। परंतु उन्होंने (अपरे अथवा केचित् इत्याहुः) इत्याहुः कहकर स्वयं को उस मत से पृथक कर लिया है। अतः नागेश की दृष्टि में भी महाभाष्यकार तथा गोणिका पुत्र दो पृथक व्यक्ति हैं।
4. चक्रपाणी ने चरक संहिता की टीका के प्रारंभ में अहिपति नाम से महर्षि पतञ्जलि को प्रणति अर्पित की है। भारतीय परंपरा में पतञ्जलि को शेष का अवतार माना गया है।
5. माघ प्रणीत शिशुपालबध महाकाव्य की टीका में आचार्य बल्लभदेव ने पतञ्जलि को शेषाहि नाम से स्मरण किया है।
6. आचार्य कैयट ने महाभाष्यप्रदीप टीका में पतञ्जलि के लिए नागनाथ शब्द का प्रयोग किया है।
7. आचार्यस्कंदस्वामी ने निरूक्त की स्वोपज्ञटीका में महाभाष्य का एक उद्धरण चूर्णिकार के हवाले से उद्धृत किया है। आचार्य क्षीरस्वामी ने भी अपनी अमरकोष की टीका में चूर्णिकार तथा भाष्यकार को पर्याय रूप में बताया है। अतः चूर्णिकार एवं भाष्यकार एक ही है।
8. इसी प्रकार स्कंदस्वामी, उब्बट, क्षीरस्वामी, भामह, तथा आत्मानंद ने पदकार के नाम से पतञ्जलि का स्मरण किया है।
9. षड्गुरुशिष्य के एक उदाहरण—"योगाचार्य स्वयं कर्ता योगशास्त्र निदानयोः" में महर्षि पतञ्जलि को योगाचार्य भी कहा है।

वस्तुत : आचार्य पतञ्जलि का कर्तृत्व विपुल है। वह सूत्रकार तो है ही महावैय्याकरण महाभाष्यकार भी हैं। तथा चरकसंहिता के प्रसिद्ध प्रतिसंस्कर्ता भी। इस आशय की पुष्टि भर्तृहरि प्रणीत वाक्यपदीय की कतिपय कारिकाओं से तो होती ही है।[10] सुबंधु प्रणीत वासवदत्त की शिवरामकृतटीका में उद्धृत एक श्लोक से भी होती है।[11] गोणिका पुत्र को पारदाहिक प्रकरण का आचार्य माना गया है।

स्थान-स्थान पर उनके मतों को उद्धृत भी किया है। इस प्रकार आचार्य पतञ्जलि का कर्तृत्व तीन शास्त्रों में विभक्त है।[12] योगदर्शन, व्याकरण तथा आयुर्वेद।[13] परंतु उनका अवांतर कर्तृत्व भी कुछ कम नहीं है। जैसा की ऊपर बताया गया महर्षि पतञ्जलि कामशास्त्र के भी विशिष्ट आचार्य हैं। वह सामवेदीय 'निदानसूत्र' के भी कर्ता है। उन्हें महानंद नामक काव्य का भी कर्ता बताया गया है। आचार्यपतञ्जजि के व्यक्तित्व एवं कृतित्त्व दोनों से सच्चाइयों एवं जनश्रुतियों का समन्वय है। अतः हमें अत्यंत सावधानी से निष्कर्ष निकालने चाहिए। श्रद्धातिरेक होने पर हम असंभावनाओं की अनदेखी कर सकते हैं, इनमें कर्तृत्व की अपेक्षा जन्मस्थान का प्रश्न अधिक जटिल है। क्योंकि प्रतिभा का धनी कोई भी आचार्य या कवि कई विषयों का पारङ्गत तो हो सकता है। परंतु कई स्थानों पर एक ही समय पैदा कथमपि नहीं हो सकता। पतञ्जलि गोनर्दीय हैं, यह निश्चित है। परंतु यह गोनर्द कहाँ है ? इस विषय में विद्वानों के मत यथावत् उपन्यस्त किए जा रहे हैं।

(क) आर.जी. भंडारकर एवं अधिकसंख्यक विद्वानों ने उत्तरप्रदेश के गोंडा नगर को ही महाभाष्य का गोनर्द माना है। यह नगर वर्तमान अयोध्या, बलरामपुर एवं बहराइच ज़िलों के बीच है। महाभाष्य के अधिकाँश टीकाकार गोनर्द की स्थिति प्राच्य क्षेत्र बताते हैं।[15] उत्तरप्रदेश का गोंडा नगर उस मत की पुष्टि करता है।

(ख) मेरे मित्र सिद्ध गवेषक डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित ने गोनर्द के भोपाल में होने की बात कही है। सुत्तनिपात के एक उल्लेखानुसार गोनद्धपुर अथवा गोधपुर को उज्जयिनी तथा विदिशा के बीच बताया है।[16]

(ग) लघुशब्देन्दुशेखर पृ. संख्या 2 के अनुसार गोनर्द नदी के तट पर तपस्यारत किसी ऋषि की उञ्जलि में कहीं से एक शिशु आ गिरा जो आगे चलकर पतञ्जलि नाम से विख्यात हुआ। ''गोनर्दनदीतीरे तपस्यतः कस्यचिद् ऋषेरञ्जलौ पतितः''।[17]

डॉ. शशिकांतभट्ट के अनुसार वह गोनर्द नदी सीहोर के पास बहती थी। यह सर्वज्ञात तथ्य है। कि स्वतंत्र जनपद तथा प्रांतीय राजधानी बनने के पूर्व भोपाल सीहोर ज़िले की ही एक तहसील हुआ करता था। अत एव गोनर्द नदी का सीहोर में होना भोपाल में ही होने के बराबर है।

(ग) डॉ. मोतीचंद, महापंडित राहुलसांकृत्यायन तथा अन्य विद्वानों ने इसी

गोनर्द से महाभाष्यकार को संबद्ध माना है। जिसका विस्तृत विवेचन डॉ. राजपुरोहित ने अपने आलेख में किया है।[18]

(घ) कविश्रेष्ठ रामभद्रदीक्षित प्रणीत 'पतञ्जलि चरित' में पतञ्जलि को दक्षिण भारत (तमिलनाडु) स्थित चिदंबरम् दीर्घभोज को बताया गया है। वहीं उनकी शेषावतार प्रतिमा भी सुरक्षित है। दक्षिण में महाभाष्य का निष्ठापूर्वक पठन पाठन भी होता रहा है।

(ङ) डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित ने भोपाल पक्षीय मतो की भरपूर निष्पक्ष समीक्षा की है। भौगोलिक ऐतिहासिक एवं राजनैतिक दृष्टि से। उनकी समीक्षा का सार संक्षेप जानने के बाद ही उसकी प्रतिसमीक्षा संभव है। बुद्धयुगीन भूगोल के अनुसार गोनद्ध या गोनद्धपुर अवंती जनपद का प्रसिद्ध निगम था। बावरि ब्राह्मण के सोलह शिष्य गोदावरी तटवर्ती होते हुए अपने गुरु के आश्रम से चलकर प्रतिष्ठान (पैठन) और महिष्मती होते हुए उज्जयिनी तथा वहाँ से गोनद्ध आए। गोनद्ध से वे लोग विदिशा गए। इस विवरण से गोनद्ध की भौगोलिक स्थिति सुस्पष्ट हो जाती है।

प्राचीन यात्रा पथों के विवरण से भी गोनर्द की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। जिसका प्रमाण श्री स.का. दीक्षित प्रणीत उज्जयिनी (पृष्ठसंख्या 88–89) से प्राप्त हो जाता है। अशोक युगीन सुत्तनिपात (परायणवग्ग, वत्थुगाथा) में कहा गया है कि उज्जयिनी से एक ओर माहिष्मती एवं पैठन को तथा दूसरी और गोनर्द विदिशा कौशांबी, एवं पाटलिपुत्र को जाने वाले मार्ग थे। राहुलसांकृत्यान (पुरातन निबंधावली पृ.221)के अनुसार भी मालवा में उज्जयिनी एवं विदिशा के मध्य भोपाल के पास गोनर्द नामक कोई स्थान था। डॉ. राजपुरोहित का यह भी कथन है कि उन्होंने प्रख्यात पुराविद् डॉ. एच. वी. त्रिवेदी के साथ गोंदरमऊ (गोनर्द) की यात्रा की थी और यात्रा के अंत में श्री त्रिवेदी ने अपने डायरी में लिखा भी था (26.01.86) मैं तो पूर्णतया सहमत हूँ गोंदरमऊ की पहचान पर प्रख्यात इतिहासकार प्रो.के.डी. वाजपेयी तथा केंद्रीय पुरातत्त्वविभाग के पुरातत्त्वविद डॉ. नारायण व्यास ने भी गोंदरमऊ की यात्रा की तथा उनके महत्व की पुष्टि की है। डॉ. राजपुरोहित ने वत्थुगाथा के हवाले से गोनर्द के यात्रापथीय महत्व को रेखाङ्कित किया है। दक्षिण से उत्तर की ओर जाने वाले पथों का विवरण वत्थुगाथा में इस प्रकार दिया गया है।

अलकस्हा पतिट्ठानं पुरि महिस्सति तदा।
उज्जेनि चापि गोनद्धं वेदिसं वनसह्यनम्।
कोसम्बि चापि साकेतं सादित्थं च पुरुत्तमम्।
सेतव्यं कपिलवत्थु कुशिनारंच मागधं पुरं।
पासाणकं चेतियं च रमणीयं मनोहरं॥

इस वर्णन से स्पष्ट है कि दक्षिणापथ से उत्तरापथ सीधे जुड़े हुआ था विविध मार्गों से। प्रतिष्ठान से प्रारंभ मार्ग मार्गमातिष्मती, उज्जयिनी, गोनर्द, विदिशा, वनसह्वय ? कौशाम्बी, साकेत, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, कुशीनारा, पावापुरी, भोगनगर, वैशाली, तथा मगधपुर (पाटलिपुत्र) पहुँचता था। निश्चिय ही इस यात्रा पथ में गोनर्द का गिना जाना उसका अतिशय महत्त्वसूचित करता है।

वर्तमान में यह गोनर्द (गोनद्धपुर/गोधपुर) गोंदरमऊ ग्राम के रूप में प्रत्यभिज्ञात है। तथा भोपाल नरसिंहगढ़ राजमार्ग पर गांधीनगर बस अड्डे से एक किलोमीटर उत्तर में स्थित है। यह वैरागढ़ विमानपत्तन के भी अत्यंत समीप ही है। डॉ. राजपुरोहित के ही शब्दों में लगता है गोनर्द शब्द बाद में वर्णविपर्यय से गोदर बन गया। मऊ मधूक महुवें (वृक्षविशेष) का सूचक है।

डॉ. राजपुरोहित गोंदरमऊ क्षेत्र के पुरातात्विक के विषय में प्रभूत सूचनाएँ एकत्र करते हैं। प्रो. सिद्धार्थ वाकणकर को यहाँ ई.पू. प्रथमशती की गजलक्ष्मी प्रतिमा मिली थी। इसी गाँव में 235 से 248 ई. तक के शकक्षत्रियों के सिक्के मिले थे।

महाश्रत्रिय विजयसेन के पाँच, महाक्षत्रिय रूद्रसेन द्वितीय के छह भर्तृदास के सत्रह, क्षत्रिय विश्वसेन के दस, रूद्रसिंह द्वितीय के तीन महाक्षत्रिय स्वामी रूद्रसेन तृतीय का एक। अनेक सिक्के अभी भी पढ़े नहीं जा सके हैं। इस प्रकार गोंदरमऊ एक व्यापारिक महापीठ सिद्ध होता है। आज भी वह भोपाल की राजनयिक प्रतिष्ठा के कारण भले ही उपेक्षित विस्मृतप्राय तथा अनाकर्षक हो चला हो परंतु भोपाल को तिरस्करणी में रखते ही गोंदरमऊ देपीप्यमान हो उठता है।

तो क्या यहीं गोंदरमऊ आचार्य पतञ्जलि का गोनर्द है ? सर्वप्रथम तो हमें यह देखना होगा कि संस्कृत गोनर्द जब प्राकृत में प्रयोग आएगा तो उसका रूप क्या बनेगा यह परिवर्तन इस प्रकार होगा। गो नर्द गोनद्द कमज़ोर वर्ण र का लोप होकर गोंदा द का द्वित्व हटेगा तो अंतिम द दीर्घ हो जाएगा तो गोंडा (दकार को डकार) होगा।

इस प्रकार गोनर्द (संस्कृत) का तद्भव रूप हर हालत में गोंड़ा ही बनेगा। तथा गोनर्द से गोंदर भी बन सकता है? मेरी दृष्टि में नकार के अनुनासिक बनते तथा र्द के वर्ण व्यत्यय से दर बन जाने से गोनर्द का गोंदर भी बन सकता है। परंतु यह प्रक्रिया थोड़ी असहज अतथ्य है। इसी प्रकार र्द के महाप्राणीकरण से गोनर्द का गोनष्ठ अथवा (नकार के लोप से) गोध भी बन सकता है। प्रश्न केवल गोंदर से जुड़े मऊ शब्द का है। ग्राम वाचक मऊ, सराय, पार तथा पुर, आदि शब्द प्रायः सल्तनत काल में (11वीं से 18वीं शती ई.के मध्य) मूलशब्दों के साथ जुड़े हैं। इनमें केवल पुर शब्द ही संस्कृत परंपरा का है। रामपुर, सीतापुर, लक्ष्मणपुर, भरतपुर, दशरथपुर, वासूपुर, कर्पूरपुर, मर्गूपुर, खमपुर, सहोदरपुर, प्रयागपुर, धर्मपुर आदि। मऊ शब्द यदि मधुक का अंश है तो इसके जुड़ने का औचित्य क्या है? मधूक वृक्ष सर्वत्र तो होता नहीं। कहीं ग्रामवासी मौजा शब्द (उर्दू) का तो अंश नहीं? जो भी हो परंतु मऊ से अंत होने वाले गाँव भी पदे-पदे मिलते हैं। बागरमऊ, डलमऊ, सिंगरामऊ, कुल्हनामऊ, धनियामऊ, जाजमऊ, सीसामऊ, आदि। सराय से अंत होने वाले स्थान प्रायः मुगलकालीन है। ये प्रायः अर्थशासकीय होते थे, तथा सुरक्षित थे। हरखूसराय, लोकसराय, त्रिलोकीसराय, रानीसराय, खेतासराय, मुगलसराय, ख्वाजासराय, बीकासराय, मीरासराय, आदि। कुछ ग्राम पारांत भी होते थे। गोनापार, वेलापार, जमुनापार, गङ्गापार, गोडापार, बरूईपार, भाऊपार, आदि। प्रश्न यह है कि यदि अग्रहार का मूलनाम गोंदर ही था तो उसमें मधुक (मऊ) जुड़ने का क्या औचित्य था। पुनश्च यदि गोनर्दमधूक प्रारंभ हे ही एकपद रहा होता तो आचार्य स्वयं को गोनर्दमधीयः ही कहते न कि गोनर्दीयः। इससे यह तथ्य स्पष्टतः सिद्ध हो रहा है कि आचार्य पतञ्जलि गोनर्द से ही संबद्ध थे। न कि गोनर्दमधूक से। यद्यपि मेरे विद्वान् मित्र प्रो. राजपुरोहित ने पतञ्जलि युगीन सारी राजनैतिक गतिविधियाँ मध्यप्रदेश में ही सिद्ध की है। यहाँ तक कि सिंधुनदी के तट पर यवनसेनापति शहानीक के साथ लड़ा गया युद्ध भी दर्शाने की सिंधु के तट पर लड़ा बता दिया है। जो उपहासास्पद है। इसका तो सीधा अर्थ यह हो जाएगा कि यवनो ने विदिशा और उज्जैन को ही आक्रांत कर लिया था। परंतु ऐसा नहीं था। जिस युद्ध की चर्चा कालिदास ने मालविकाग्निमित्रनाटक में की है वह निश्चय ही भारत वर्ष की सीमा से बहती सिंधु के तट पर लड़ा गया था। उसी युद्ध भूमि से सेनापति पुष्यमित्र शुंग का पत्र संदेश अग्निमित्र के पास आता है। इस युद्ध के विषय में कुछ और तथ्य भी जानने योग्य है।

डॉ. रायचौधुरी विंसेण्टस्मिथ एवं डॉ. नीलकंठशास्त्री आदि सभी इतिहासकार उस विषय में एकमत हैं कि मौर्यशासन का अंत होते ही समय पश्चिमोत्तर सीमा पर एक बार पुनः यूनानियों का दबाव बढ़ गया था। डिमिट्रियस के नेतृत्व में यूनानी सेना ने आगे बढ़ते हुए समूचे पञ्जाब पर अधिकार कर लिया। यहाँ तक कि मथुरा पर भी यूनान का अधिकार हो गया। यूनानी सेना साकेत पर भी घेरा डाल दिया। यूनानियों का यह साहस देखकर ही नए सम्राट् पुष्यमित्र शुंग ने विदिशा को अपनी दूसरी राजधानी घोषित की तथा यवनों के दमनार्थ स्वयं अपने पौत्र वसुमित्र के साथ आगे बढ़ा भयभीत यूनानी पीछे हटे और अंततः सिंधु तट पर भीषण युद्ध में उनका सफाया हो गया। सौभाग्यवश युद्धविषयक ये घटनाएँ महाभाष्यकार पतञ्जलि द्वारा उल्लिखित है। "अरूणत् यवनो माध्यमिकाम् तथा अरूणम् यवनः साकेतम्।"[20] महाभाष्य के ये दोनों ही उदाहरण पूर्णतः ऐतिहासिक सत्य पर आधारित है। कुछ इतिहासकार यूनानी सेनापति डिमिट्रियस को न मानकर मिनांडर को मानते है। जिसकी भेट बौद्धदार्शनिक नागसेन से हुई थी। जिसका विवरण हम मिलिंदापञ्हो (मिलिंदप्रश्न) नामक बौद्ध ग्रंथ में पाते है। पुष्यमित्र का शासनकाल 36 वर्ष (ई.पू.185–149)का था। निश्चित रूप से यहीं समय महाभाष्यकार पतञ्जलि विक्रमादित्य एवं कालिदास का भी है। अतः कालिदास प्रणीत मालविकाग्निमित्रम् तथा महाभाष्य में उल्लिखित ऐतिहासिक वृत्तों को हम काल्पनिक नहीं मान सकते हैं। कालिदास की यह सूचना अत्यंत महत्त्वपूर्ण है कि पश्चिमोत्तर सीमांत युद्ध के समय पुष्यमित्र अश्वमेधयज्ञ की दीक्षा ले चुका था इसलिए वह युद्ध सञ्चालन स्वयं न करके अपने पौत्र वसुमित्र से करा रहा था जो बेहद असंभव कार्य था। (अतिघोरे खलु पुत्रकः सेनापतिना नियुक्तः—धारिणी) पत्र में स्पष्ट उल्लेख है कि वह पत्र यज्ञशाला में लिखा जा रहा था। पत्र यज्ञाश्व के मुक्त किए जाने के कारण अश्वमेधयज्ञ आयोजित करने का संकल्प व्यक्त किया गया है। पुष्यमित्र का वह यज्ञ कहाँ और कैसे संपन्न हुआ इसकी सूचना हमें महाभाष्यकार के निम्न उदाहरणों से मिलती है।—

1. इह पुष्यमित्रं याजयामः। प्रवृत्तस्याविरामः।
2. पुष्यमित्रो यजते याजका याजयन्ति। पुष्यमित्रो याजयते याजकाः यजन्ति।
3. पुष्यमित्रसभा, चंद्रगुप्तसभा (महामाष्यम् 2.1.68)
4. मौर्यैर्हिरण्यार्भिरर्चाः प्रकल्पिताः महाभाष्यम् (5.6.9)

इन सारे संदर्भों को यदि जोड़कर देखा जाए तो ज्ञात होता है कि वैदिक

महाभाष्यकार पतञ्जलि ही पुष्यमित्र के अश्वमेधयज्ञ के प्रमुख आचार्य थे। इस यज्ञ में कुछ अध्वर्यु क्षत्रियवंश के भी थे जिन पर आचार्य ने कटाक्ष किया था। याजयामः क्रिया का प्रयोग अश्वमेधयज्ञ का वर्तमान में होना सूचित करता है। प्रवृत्तस्याविरामः का भाव यह है कि यज्ञ आरंभ हो जाने के बाद विराम कहाँ! अर्थात् आचार्य यज्ञ की समाप्ति तक सक्रिय ही बने रहे। पतञ्जलि बताते हैं कि यज्ञ के कारण उन्हें लंबे समय तक एक ही स्थान पर रुकना पड़ा, जहाँ वे छात्रों को पढ़ाते भी रहे। आचार्य यजते का यथार्थ भी समझाते हैं कि आहुति डालना ही यजते का संगत अर्थ नहीं है। अपितु इसका अभिप्राय है यज्ञ में द्रव्य का त्याग। इसलिए यह कथन संगत है कि पुष्यमित्रो यजते। अध्वर्यु तो मात्र एतदर्थ प्रेरणा देते हैं। अतः कहा जाता हैं कि याजकाः यजन्ति अब यदि कोई अध्वर्यु को ही यजमान तथा पुष्यमित्र को याजक कहे तो यह कथन सर्वथा असंगत ही होगा। क्योंकि याजक आचार्यगण स्वयं तो यज्ञकुंड में आहुति डालते नहीं। यूँ तो अयोध्या शिलालेख से सिद्ध होता है कि पुष्यमित्र ने दो अश्वमेधयज्ञ किए थे। (द्विरश्वमेधयाजिनः पुष्यमित्रस्य) और यह शिलालेख भी दोनों यज्ञों के बाद की ही है। यह भी प्रसिद्ध है कि महाराज जनमेजय के बाद पुष्यमित्र ने ही इदम्प्रथमतया अश्वमेध यज्ञ संपन्न किया। यह प्रश्न है कि शकोन्मूलन के बाद पुष्यमित्र का अश्वमेधयज्ञ कहाँ हुआ? मेरी दृढ़ धारणा है कि पुष्यमित्र का दूसरा अश्वमेधयज्ञ प्रयाग में भगवती गङ्गा के बाएँ तट पर संपन्न हुआ जहाँ आज छत्रनाग नामक गाँव है। वस्तुतः छत्रनाग, तक्षकनाग का अपभ्रंश है। उस गाँव की यह प्रसिद्धि महाभाष्यकार तथा अश्वमेधज्ञ के याजक आचार्यपतञ्जलिकी शेषावतारता के कारण हुई होगी। प्रयाग में गंगातट पर छत्रनाग नामक गाँव का होना दारागंज मुहल्ले में वासुकि मंदिर का पौराणिक प्रतिष्ठापित होना शेषावतार पतञ्जलि की ही लोकप्रियता का सूचक है। प्रयाग से मात्र 135 किलोमीटर दूर पूर्व में स्थित है मोक्षदा पुरी काशी जहाँ का नागकूपतीर्थ अत्यंत प्राचीन काल से ही आचार्य पतञ्जलि का स्मारक माना जाता रहा है। यद्यपि काल प्रवाह वश आज यह तीर्थ सघनमुस्लिम वस्ती (जैतपुरा) से घिरा है तथा अपने समारोहो उपक्रमों की दृष्टि से अत्यंत संस्कारापन्न बन गया है। नागकूप शेषावतार महर्षि पतञ्जलि का वाराणसी आश्रम माना जाता है। यहाँ पर एक भव्य पौराणिक कूप है एकदम चौकोर जिसने उतरने के लिए चारों दिशाओं में समानंतर सीढ़ियाँ बनी है। कूप की तलहटी में अत्यंत स्वादु, निर्मल, पवित्र जल है, जिसमें अद्‌भुत औषधीय गुण है। लोग इस पवित्र ओषधीय जल को श्रद्धापूर्वक पीते हैं। तथा घर भी ले जाते हैं।

जनश्रुति के अनुसार महर्षि पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य की रचना नागकूप आश्रम में ही किया था। 17 शती ई. में कालाकाँकर नरेश रामसिंह (प्रतापगढ़) के विद्वत्सभाध्यक्ष नागेशभट्ट भी इसी नागकूप आश्रम में निवास करते थे। संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के संरक्षण में इन दिनों उस आश्रम में एक शास्त्रार्थ प्रचार समिति संस्थापित है आचार्य रामयत्नशुक्ल जी की अध्यक्षता में। प्रतिवर्ष नागपंचमी के दिन यहाँ व्याकरण, दर्शन, तथा साहित्य विषयों में रोचक शास्त्रार्थ संपन्न होता है। काशी के स्वनाम धन्य आचार्यो की देखरेख में। यद्यपि तुरुष्को द्वारा आश्रम की ज़मीन हड़पलेने के कारण अब नागकूप के विस्तार की कोई संभावना नहीं दिखती तथापि पतञ्जलि के आश्रम के रूप में यह स्थान किसी तीर्थ से कम नहीं है।[21]

अब इतने लंबे व्याख्यान के अनंतर हम निष्कर्ष की ओर बढ़ते है कि इस विषय में मेरे मत इस प्रकार हैं।

1. यद्यपि डॉ. राजपुरोहित ने भोपाल के पार्श्ववर्ती ग्राम गोंदरमऊ की व्यापारिक प्रतिष्ठा तथा पुरातात्विकमहत्त्व का भव्य चित्रण किया है।

इसमें कोई शक नहीं वह कभी वैसा रहा भी होगा। परंतु किसी नगर के वैभव तथा ऐश्वर्य से ही उसका किसी कालजयी आचार्य का उद्‌भवस्थान होना सिद्ध नहीं हो जाता।

दूसरी बात यह कि जितने आचार्यो, विद्वानों का मतसंकलन डॉ. राजपुरोहित ने किया है उसमें से किसी एक ने भी गोंदरमऊ को महर्षि पतञ्जलि की जन्मभूमि होने की आशंका नहीं व्यक्त की है। सब ने केवल गोंदरमरू के अतीत वैभव की चर्चा की है।

2. जैसा कि मैंने पहले कहा है गोनर्द का स्वाभाविक भाषावैज्ञानिक रूपांतर गोंदा या गोंड़ा ही संभव है। गोंदर नहीं। गोनर्दमधूक की कल्पना भी द्राविड़ प्राणायाम ही प्रतीत होती है। ग्राम के साथ मधूक शब्द के जुड़नें की कोई भी परंपरा भारत में कभी भी नहीं रही है। मऊ शब्द सल्तनतकाल की देन है।

3. तीसरी बात यह कि मैं पतञ्जलि के अनेक होने का विरोध नहीं करता विरोध लायक प्रमाण भी मेरे पास नहीं है। अत एव पतञ्जलि चरित महाकाव्य के कर्ता श्रीरामदीक्षित यदि उन्हें चिदंबर (तमिलनाडु) का निवासी मानते है जहाँ उनकी कोई शेषावतार की मूर्ति भी सुरक्षित है। तो संभव है कि दीक्षित जी की दृष्टि या परिचय परिधि में महाभाष्यकार गोनर्दीय से भिन्न, कोई अन्य दाक्षिणात्य

पतञ्जलि रहे हों।

4. परंतु यदि एक ही गोनर्दीय पतञ्जलि महाभाष्यकार भी वैयाकरण हैं। योगसूत्र के प्रवर्तक आचार्य भी हैं। तथा चरकसंहिता के प्रतिसंस्कर्ता भी तो मात्र इस आधार पर मैं पतञ्जलि को तीन नहीं मान सकता। पवित्र भारतभूमि में ऐसी प्रतिभाओं की कमी नहीं रही है। आचार्यवाचस्पति मिश्र की प्रतिभा चतुरस्त्र थी। वे किस दर्शन के मर्मज्ञ नहीं थे। पाणिनि, वररूचि, पतञ्जलि, अभिनवगुप्त, शंकुक, पंडितराज सबके सब शास्त्रज्ञ भी थे सहृदयकवि भी थे। अतः एक ही आचार्य पतञ्जलि वैयाकरण, दार्शनिक तथा आयुर्वेदज्ञ सिद्ध होते हैं। अपनी कृतियों महाभाष्य, योगसूत्र, तथा चरकसंहिता से उसमें आश्चर्य क्या है। इससे उनका पृथक्त्व तो नहीं सिद्ध हो जाता। तथापि विद्वानों ने इस तथ्य के प्रति अपनी सहमति असहमति व्यक्त की है। जो इस प्रकार है।

(क) पतञ्जलिचरितकार ने स्वयं लिखा है कि महाभाष्य की रचना के बाद आचार्य पतञ्जलि ने योगदर्शन के योगसूत्रों तथा वैद्यकशास्त्र पर वार्तिकों की रचना संपन्न की।

(ख) चरकसंहिता के टीकाकार ऋकपाणि ने टीकारंभ में ही चरक के प्रतिसंस्कर्ता पतञ्जलि को महाभाष्य एवं योगसूत्र के रचनाकार हैं, अभिन्न माना है।

(ग) डॉ. प्रभुदयाल अग्निहोत्री ने पतञ्जलि को एकाधिक माना है। सम्राट् कनिष्क (ई.78) की कन्या को रोगमुक्त करने वाले पतञ्जलि को द्वितीयशती ई. में योगसूत्रकर्ता पतञ्जलि को तीसरी चौथी शती ई. में स्थित माना है।

(घ) पाश्चात्य विद्वान् लासेन तथा गार्वे महाभाष्यकार तथा योगसूत्रकार को अभिन्न मानते है। फ्रेडरिक मैक्समूलर भिन्न मानते हैं। उनका यह मत है कि एक ही व्यक्ति परस्पर असंबद्ध विषयों पर इतना प्रामाणिक ग्रंथ कैसे लिख सकता है।[23]

(ङ) डॉ. एस.एन.दासगुप्त तथा जे.एस.बुड का मत है कि महाभाष्यकार तथा योगसूत्रकार पतञ्जलि को एक माननें की परंपरा पर्याप्त उत्तरकालीन है। वस्तुतः इस भ्रम का कारण ही है नाम कृत साम्यता। तीन पतञ्जलियोंकी एकता सिद्ध करने वाला पद्य 'योगेन चित्त पदेन वाचां' सर्वप्रथम शिवरामकृत वासवदत्ता की टीका में आया है। जिसका समय

आफ्रेक्ट के अनुसार 18वीं शती ई. है।

(च) महावैयाकरण पतञ्जलि का सांख्ययोगदर्शन पारंगतत्त्व तो शङ्का संदेह से परे है। क्योंकि 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' तथा 'स्त्रियाम्' सूत्रों के भाष्य में सांख्ययोग का गुणसिद्धांत 'स्थानेऽन्तरतमः' सूत्र के भाष्य में सत्कार्यवाद का 'कम्बलाच्च संज्ञायाम्' तथा 'विभाषा हविरपूपाविज्य' सूत्रो के भाष्य में गुणांतरस्थान का सिद्धांत तथा 'क्षिप्रवचने लिट्' के भाष्य में इंद्रिय बुद्धिभेद सिद्धांत स्पष्टतः व्याख्यात मिलता है। इसी प्रकार स्फोटसिद्धांत महाभाष्यकार तथा योगसूत्रकार दोनों के समान सूत्र मान्य है।

(छ) परंतु आचार्य पतञ्जलि की प्रतिभा व्याकरण, दर्शन एवं वैद्यक तक ही सीमित नहीं है। कोशग्रंथों की अनेक टीकाओं में भी वासुकि, शेष, भोगींद्र, फणिपति, आदि नामों से उद्धरण मिलते हैं। ये सारे नाम निश्चित रूप से पतञ्जलि के ही हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि आचार्य की प्रतिभा एवं प्रतिष्ठा कोशशास्त्र में भी रही है।

(ज) राजमार्तंडवृत्तिकार महाराज भोज भी तीन पतञ्जलियों के अभिन्न होने के पक्षधर हैं। वाक्यपदीय के टीकाकार पुण्यराज की भी यहीं दृष्टि है।

(झ) संप्रति आचार्य पतञ्जलि के नाम से तीन ग्रंथ मिलते हैं।
(1) अष्टाध्यायी महाभाष्यम्, (2) योगसूत्रम् (3) सामवेदीय निदान सूत्र। सामवेदीय की पातञ्जलशाखा तथा महानंदकाव्य, लोहशास्त्र तथा किसी मानक कोशग्रंथ का पातञ्जल कर्तृत्व केवल चर्चा का विषय है।

(ञ) महाभाष्यकार ने स्वयं लिखा है ''ग्रामे ग्रामे काठकं कालापकं च प्रोच्यते'' गहन शोध से ज्ञात होता है कि पतञ्जलि के युग में यह स्थिति पञ्जाब से लेकर पाटलिपुत्र तक ही थी। मध्य अथवा दक्षिण भारत की नहीं। संभवतः यहीं क्षेत्र उनका कर्मक्षेत्र भी था।[24]

इन विपुल प्रमाणों, सूक्तियों तथा परिस्थितियों से स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य पतञ्जलि का जन्मस्थान गोनर्द, उत्तरप्रदेश का गोंडा नगर ही था न कि मध्यप्रदेश का गोंदरमऊ। प्रोफ़ेसर अभिराज राजेंद्र मिश्र पूर्वकुलपति 28 जून 2015

आफ्रेक्ट के अनुसार 18वीं शती ई. है।

(च) महावैयाकरण पतञ्जलि का सांख्ययोगदर्शन पारंगतत्त्व तो शङ्का संदेह से परे है। क्योंकि 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' तथा 'स्त्रियाम्' सूत्रों के भाष्य में सांख्ययोग का गुणसिद्धांत 'स्थानेऽन्तरतमः' सूत्र के भाष्य में सत्कार्यवाद का 'कम्बलाच्च संज्ञायाम्' तथा 'विभाषा हविरपूपाविज्य' सूत्रो के भाष्य में गुणांतरस्थान का सिद्धांत तथा 'क्षिप्रवचने लिट्' के भाष्य में इंद्रिय बुद्धिभेद सिद्धांत स्पष्टतः व्याख्यात मिलता है। इसी प्रकार स्फोटसिद्धांत महाभाष्यकार तथा योगसूत्रकार दोनों के समान सूत्र मान्य है।

(छ) परंतु आचार्य पतञ्जलि की प्रतिभा व्याकरण, दर्शन एवं वैद्यक तक ही सीमित नहीं है। कोशग्रंथों की अनेक टीकाओं में भी वासुकि, शेष, भोगींद्र, फणिपति, आदि नामों से उद्धरण मिलते हैं। ये सारे नाम निश्चित रूप से पतञ्जलि के ही हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि आचार्य की प्रतिभा एवं प्रतिष्ठा कोशशास्त्र में भी रही है।

(ज) राजमार्तंडवृत्तिकार महाराज भोज भी तीन पतञ्जलियों के अभिन्न होने के पक्षधर हैं। वाक्यपदीय के टीकाकार पुण्यराज की भी यहीं दृष्टि है।

(झ) संप्रति आचार्य पतञ्जलि के नाम से तीन ग्रंथ मिलते हैं।
(1) अष्टाध्यायी महाभाष्यम्, (2) योगसूत्रम् (3) सामवेदीय निदान सूत्र। सामवेदीय की पातञ्जलशाखा तथा महानंदकाव्य, लोहशास्त्र तथा किसी मानक कोशग्रंथ का पातञ्जल कर्तृत्व केवल चर्चा का विषय है।

(ञ) महाभाष्यकार ने स्वयं लिखा है "ग्रामे ग्रामे काठकं कालापकं च प्रोच्यते" गहन शोध से ज्ञात होता है कि पतञ्जलि के युग में यह स्थिति पञ्जाब से लेकर पाटलिपुत्र तक ही थी। मध्य अथवा दक्षिण भारत की नहीं। संभवतः यहीं क्षेत्र उनका कर्मक्षेत्र भी था।[24]

इन विपुल प्रमाणों, सूक्तियों तथा परिस्थितियों से स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य पतञ्जलि का जन्मस्थान गोनर्द, उत्तरप्रदेश का गोंडा नगर ही था न कि मध्यप्रदेश का गोंदरमऊ। प्रोफ़ेसर अभिराज राजेंद्र मिश्र पूर्वकुलपति 28 जून 2015

पादटिप्पणी

1. राजतरङ्गिणीकार कल्हण ने स्वयं भी जनश्रुतियों की गणना इतिहास के स्रोत के रूप में किया है।
2. संस्कृत व्याकरण का इतिहास पृष्ठसंख्या 528
3. वही. पृ. 128
4. महाभाष्यम्। 4.2.93
5. पातञ्जलमहाभाष्यचरकप्रतिसंस्कृते। मनोवाक्कायदोषाणां हन्त्रेऽहिपतये नमः॥ चरकटीका 502
6. शिशुपालब्धम् टीका 2-22
7. अष्टाध्यायी-महाभाष्यम् 4.2.92
8. द्रष्टव्य निरूक्त टीका 3.16
9. अमरकोष टीका क्षीरस्वामी भाष्यं चूर्णिः...
10. कायवाग्बुद्धिविषया ये मलाः समवस्थिताः।
    चिकित्सालक्षणध्यात्म शास्त्रैस्तेषां विशुद्धः॥ वाक्यपदीयम् 1.1.48
11. योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य तु वैद्यकेन।
    योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोस्मि॥
    वासवदत्ता टीका पृष्ठ संख्या 239
12. द्रष्टव्य वात्स्यायनकामसूत्रम् (भार्याधिकारिक एवं पाददाहिकप्रकरण)
13. सूत्राणि योगशास्त्रे वैद्यकशास्त्रे च वार्तिकारि यतः।
    कृत्वा पतञ्जलिमुनिर्नमस्कृत्य गोणिकां जननीम्।
    तस्यां त्रिदिवं गतायां तस्थौ शेषैः स्वयम्पुनः। पतञ्जलिचरितम्। 5. 25-26
14. पतञ्जलिः महाभाष्यातिरिक्तं महानंदकाव्यचरकसंहितायाः परिष्करणं सिद्धांतसारावलीं आर्यापञ्चाशीति सांख्यशास्त्रं कोशं साहित्यशास्त्रं लोहशास्त्रं, योगसूत्रं सामवेदीयनिदानसूत्रञ्च लिखितवान्। महाभाष्य तत्वविमर्शः पृष्ठसंख्या 52 (आचार्यभगवत्शरणशुक्लः किशोरविद्यानिकेतन, नई दिल्ली, वाराणसी, 2012 ई.)
15. गोनर्दीय इति नाम्नः अयं गोनर्दीयः सिद्ध्यति। साम्प्रतं 'एङ् प्राचां देशे' (2.2.75) इत्यनेन वृद्धसंज्ञायां जातायामेव गोनर्दशब्दस्य छ प्रत्यये कृते गोनर्दीय इति रूपं निष्पद्यते। महाभाष्यतत्त्वविमर्शः पृ.49।
16. द्रष्टव्यः सुत्तनिपात (परायणवग्ग, वत्थुगाथा 36-38)
17. इस संदर्भ में आचार्य भगवतशरणशुक्ल प्रदत्त यह जनश्रुति भी अत्यन्तरोचक एवं महत्त्वपूर्ण है। सूर्यायाऽञ्जलिदानसमये नद्यां गोणिकाया अञ्जल्यामागतं सर्परूपं तं दृष्ट्वा सा भयेन कूलेऽञ्जलिं प्रक्षिप्तवती। स सर्प एव बालकरूपेण सञ्जातः। गोणिकया च

लालितत्वात् गोणिका पुत्र इत्यभिधया प्रसिद्धः। सर्परूपादेव प्रादुर्भावात् नागनाथः
अहिपतिः फणिभृत् इत्यादीनि नामानि तस्य सञ्जातानि। महाभाष्यतत्त्वविमर्शः पृ.49

18. द्रष्टव्य पतञ्जलि का गोनर्द—गोदरमऊ पुनर्नवा 2013 कालिदास अकादमी उज्जैन।
19. यह विवरण राजपुरोहित के आलेख से यथावत् उद्धृत है। लेखक।
20. द्रष्टव्य महाभाष्यम् 3.2.111
21. अपने संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालीय कुलपतित्व की अवधि 2002–2005 ई. में मैं प्रतिवर्ष इस शास्त्रार्थ समारोह में संरक्षक के रूप में शामिल होता रहा। समिति प्रतिवर्ष पाँच श्रेष्ठ संस्कृत विद्वानों को ग्यारह (11000) धनराशि एवं प्रमाणपत्र से सम्मानित भी करती है।
गतवर्ष 1 अगस्त 2014 में आयोजित नागकूप महोत्सव में यह विद्वत्सम्मान मित्रों मुझे दिया गया शङ्कराचार्य स्वामी सरस्वती के हाथों। राजेंद्रमिश्र।
22. भर्तृहरि, कैयट, राजशेखर, वैजयन्ती कोशकार, वात्स्यायन, भोजदेव, वासवदत्ता के टीकाकार, शिवरामभट्ट तथा बल्लभदेवादि सभी प्रायः समस्त पतञ्जलि (योगसूत्रकार, महाभाष्यकार, चरकप्रतिसंस्कर्ता चूर्णिकार, पदकार, अहिपति, नागनाथ, फणिभृत, गोणिका, पुत्र तथा गोनर्दीय) को प्रायः अभिन्न ही मानते हैं। बस कीलहार्न तथा फ्रेडरिक मैक्समूलर को छोड़कर। युधिष्ठिरमीमांसक जी भी गोणिकापुत्र को गोनर्दीय पतञ्जलि से भिन्न मानते हैं।
23. ऐसा कुतर्क मैक्समूलर तथा जाँली आदि कौटिल्य के विषय में भी दिया था कि मौर्य सम्राट् के महामात्य को इतना विशाल ग्रंथ (25 अधिकरण 150 अध्याय 6000 श्लोक तथा पुष्कलगद्य वृत्ति) लिखने का भला अवसर कहाँ था? परंतु भारतीय विद्वानों ने जमकर इसका खंडन किया। सविस्तर द्रष्टव्य—आचार्यराजेंद्रमिश्र जी का आलेख कौटिलीय अर्थशास्त्रविषयक संधानसिंधु, इष्टर्नबुकलिंकर्स, दिल्ली।
24. वस्तुतः अपनी जन्मभूमि या कर्मभूमि को कोई भी साहित्यकार छिपा नहीं पाता। इसका प्रमाण है कालिदास का हिमालय तथा उज्जैयिनी वर्णन, बाणभट्ट या विन्धाटवी वर्णन तथा भवभूति का पारा-सिंधु लवणादि नदियों का वर्णन। पतञ्जलि का भी लगाव काश्मीर, गोनर्द, प्रयाग एवं काशी से पूर्णतः प्रमाणित है। जिसकी मैंने सप्रमाण समीक्षा की है। उनका यह उदाहरण ही कितना मार्मिक है। अपि जानासि देवदत्त! काश्मीरान्? गमिष्यामस्तत्र सक्तू न् पास्यामः। महाभाष्यम् 3.1.114
काश्मीर के प्रति पतञ्जलि के इस प्रेम को देखकर ही युधिष्ठिर मीमांसक उन्हें कश्मीर राभिजन मानते हैं। हार्ट मुट् स्कार्फे महोदय उनकी जन्मभूमि मथुरा के सभी आचार्य कैयट काश्मीर के सर्वश्रेष्ठ महाभाष्यकार होने से भी इस अवधारणा को बल मिलता है। महाभाष्यविवरण वर्णन घटना संकेत उदाहरण तथा राजनैतिक चर्चा से वे विंध्योत्तर भारत के ही है। अत एव उनके काशी कोश के जुजष का अपलाप करना कठिन है।

यू तो महाभाष्य के टीकाकार अखिल भारतीय पंडित युधिष्ठिरमीमांसक की सूची में आए नाम इस प्रकार भर्तृहरि, कैयट, ज्येष्ठकलश, मैत्रेरक्षित, पुरुषोत्तमदेव, चारायण, विष्णुमित्र, नीलकंठ पाजपेयी, तिरुमलयज्ज्वा, रामेंद्र सरस्वती, गोपालकृष्णशास्त्री, प्रयागवेङ्कटादि कुमारलात सत्यप्रियतीर्थ, केशतीर्थ राजन सिंह नारायण, सर्वेश्वर दीक्षित, सदाशिव राघवेंद्र आचार्य, गजेंद्रगडकर, छलारि नरसिंहाचार्य। इनमें सर्वोत्तम्। भाष्यार्थप्रकाशिनी प्रदीपटीका आचार्यकैयट प्रणीत। प्रदीप पर भी आचार्य नागेश ने उद्योत नामक उपटीका प्रणयन किया।

माधवकृष्ण शर्मा के अनुसार अष्टाध्यायी एवं महाभाष्य के बीज अनूठा स्थान

पाणिनि आचार्य कृत व्याकरण सूत्र अष्टाध्यायी की बहु विशालतम व्याख्याओं एवं टिप्पणियों के बीच महर्षि पतञ्जलि की व्याख्या मात्रा ही आचार्य को महत्त्वपूर्ण निश्चितता और अधिकार की कसौटी केवल उत्कृष्ट द्योतित नहीं करती हैं क्योंकि एक सादगी पूर्ण संस्कृत भाषा में लिखित व्याख्यान मात्र शीर्षस्थ को नहीं पहुँचा सकती अपितु उनकी संवाद शैली बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं दिलचस्प स्थान रखती है। जो शुष्कशैली से कहीं गई हैं तथा जो सामान्यता शास्त्रिक दृष्टि को दर्शाती हैं। उपरोक्त टिप्पणी से महाभाष्य कहीं बहुत ही दूर दृष्टि गोचर होता है। आचार्य की व्याख्या में दयालुता, सम्मानितदृष्टि का पग-पग पर दर्शन होता है। आचार्य की सम्मानपूर्ण उच्चारण शैली भी महत्त्वपूर्णता का उत्तमप्रदर्शन है तथा विवेचनीय भी है। अत्यंत आदरणीय विषय यह भी है कि आचार्य प्रतिदिन व्यवहृत आचार व्यवहार को भी शास्त्रीय ढंग से प्रतिपादित करने का प्रयास किया है। जो कि शास्त्रीय टिप्पणी से अधिक व्यापकरूप से अन्यथा प्रतीत होता है। इस प्रकार का चिंतन, गभीर धर्म, सामाजिक धर्म, प्रकाश पर प्रकाश की अधिकता के फैलाने में सक्षम होता है। समकालीन अन्य विभिन्न पहलुओं पर भी आचार्य ने प्रकाश डालने का प्रयास किया है। व्याकरणशास्त्रीय सभी प्रकार के चिंतन, हिंदू साहित्य शास्त्रों का व्याकरण दृष्टि से परिशीलन का प्रथम व्याख्यानात्मक शास्त्र है। क्योंकि उनके विश्लेषणात्मक कौशल का सर्वश्रेष्ठ तरीक़े का सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन किया गया है। पंडितों के मध्य में यह उक्ति भी प्रसिद्ध है कि—

महाभाष्यं वा पठनीयम् महाराज्यं वा पालनीयम्॥

आचार्यपतञ्जलि की प्रतिभा का प्रदर्शन द्वितीय स्थान आचार्य कात्यायन के

वार्तिकों पर दृष्टि गत होती है। जो कि कात्यायन से ओतप्रोत है तथा परवर्ती टिप्पणकारों के द्वारा सम्मान का विषय बन कर लोगों के चित्त को आकर्षित किया। भाषा की दृष्टि से यदि विचार किया जाए तो शास्त्रीय भाषा के विकासोपरांत यह भाषा सुंदर कविता के उच्चतम दिनों को देखा अर्थात् काव्यात्मक रूप में भाषा विकसित हुई। तत् पश्चात् वह भाषा न्यायादि शास्त्रीय पद्धतियों के माध्यम से आगे बढ़ी और आगे शास्त्रीय काव्यीय एवं दार्शनिक तीनों का एक मञ्च पर समाहार दिखता है। परंतु इस समाहार में यह भय भी लगता है कि उन उन शास्त्रीय, काव्यपद्धतियाँ तथा दार्शनिकभाषाओं का कहीं अर्थ एवं परिभाषा करना कठिन न हो जाए। इस संग्रामात्मक स्थिति में भी महर्षि पतञ्जलि का महाभाष्य व्याकरण संबंधी सवालों पर उत्कृष्टता पूर्वक अधिकार रखता है। महर्षि पतञ्जलि के चरम काल में भाषा के आंतरिक एवं बाह्य अनेक प्रकार के परिवर्तन भी परिलक्षित होते हैं। आचार्य कात्यायन के कार्यकाल के उपरांत अथवा तुलनात्मक स्थिति में भ्रष्ट शब्दों का प्रवाह आचार्य पतञ्जलि के समय में अधिक था। फलतः बोलियों का मार्ग प्रशस्त हुआ। वैदिक उच्चारण पद्धति की सुरक्षा का दायित्व पारंपरिक पीढ़ियों को सौपा गया तथा परम योग्यों की देखरेख में ज़बरदस्त रूप में बरकरार रूप में बरकरार रखा गया। साथ–साथ व्याकरणगत नियमों का वैदिक उच्चार पद्धति में अथवा लौकिक उच्चारण पद्धति में नज़रंदाज के साथ–साथ उनके संरक्षण की भी महती आवश्यकता थी। साथ ही साथ लौकिक भाषागत विकास के अंतर्गत अपभ्रंश एवं भ्रष्टशब्दों का निरीक्षण पूर्वक परिहार भी अत्यावश्यक था। महाभाष्य के गंभीर अध्ययन से यह सिद्ध होता है कि कात्यायन के समय से ही व्याकरणशास्त्र का गहन अध्ययन शुरू हो गया था। जिस व्याकरण शास्त्र का अध्ययन नित्य कर्म के रूप में आवश्यक माना गया था उसी शास्त्र पर यह भी विचार होना शुरू हो गया कि "लोकान्नो लौकिकाः, वेदान्नो वैदिकाः अनर्थकं व्याकरणम्" इति। अर्थात् वेद से वैदिक शब्दों की सिद्धि संभव है तथा लोक से लौकिक शब्द की सिद्धि संभव है व्याकरणशास्त्र अनर्थक है। इस प्रकार जो छात्र संपूर्ण वैदिक एवं व्याकरणादि पद्धति का अध्ययन करके पुनः दीक्षांत समारोह के पश्चात् प्रत्यावर्तन किया करते थे वे छात्र शीघ्रातिशीघ्र सांसारिक माया मे लौटना शुरू कर दिए थे। इस विप्रतिपन्न बुद्धि युक्त छात्रों के सुहृद् होकर आचार्य व्याकरणशास्त्र पढ़ने के लिए निर्देश दिया करते हैं। इस प्रकार आचार्य पाणिनि के उपरांत कात्यायन एवं पतञ्जलि के समय तक यह प्रश्न लोगों के मन में आ गया था कि व्याकरण को क्यों पढ़ना चाहिए।

व्याकरण का तात्पर्य क्या होता है, तथा संबंधित जीवन में भी व्याकरण की क्या आवश्यकता है यह भी प्रश्न मन में उथल-पुथल मचाया करता है। परंतु इन प्रश्नों को मन में रखकर आचार्य ने सभी प्रश्नों का सुव्यवस्थि एवं सैद्धांतिक तथा जीवनोपयोगी उत्तर समाज के समक्ष प्रस्तुत किया। आचार्य के सैद्धांतिक उत्तर ही परवर्ती पीढ़ी के लिए नीव का पत्थर हुआ। आचार्य कात्यायन का प्रथम वार्तिक देखते तो वह व्याकरण धर्म को ही धर्म मानते हैं। जैसे—

''सिद्धे शब्दार्थसंबंधे लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः क्रियते''
जब कि सामान्य भाषण हमें शब्दार्थ और दोनों के आपसी संबंधों के दृष्टि कोण के साथ शब्दों के विषय में सिखाता है। यहाँ पर व्याकरणशास्त्र सामान्य से हटकर अपशब्दादि से रहित साधु शब्दज्ञान पूर्वक धर्मोत्पत्ति विषयक धारणा का निश्चायक है। यहीं व्याकरण का वैशिष्ट्य है। जैसे लौकिक एवं वैदिक का पार्थक्य उसी प्रकार सामान्य एवं शास्त्रीय का चिंतन भी समझना चाहिए।

इदानीं वार्तिककारः शास्त्रस्य नियमविधिरूपतया सार्थक्यमाह ''सिद्धे शब्दार्थसंबधे लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्द प्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमो यथा लौकिकवैदिकेषु'' लोकादेव हि प्रथमव्युत्पत्तिः। ततश्च लोकादेव शब्दे अर्थे तयोः संबंधे च सिद्धे अर्थबोधनाय शब्दाप्रयोगेऽपि प्रसक्ते गवादय एव प्रयोक्तव्या न तु गव्यादय इति नियमार्थं शास्त्रम्। नियमफलं तु धर्मः।

आचार्य शब्दों के विषय में एक विचार यह भी प्रस्तुत करते है कि शब्दों के सामान्यीकरण में कठिनाई की अनुभूति है क्योंकि जो शब्द प्रयोग में नहीं है तथा जिनका उच्चारण में भी व्यवहार नहीं पाया जाता है। परंतु इस मत में आचार्यकात्यायन कहते है कि यह कठिनाई अवास्तविक है क्यों कि किसी भी शब्द का प्रयोग तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि किसी वस्तु का संकेत नहीं मिलता है। उदाहरणार्थ प्रदर्शित है—

''अस्त्यप्रयुक्त इति चेन्नार्थे शब्दप्रयोगात्।'' अथवा भूयानधर्मः प्राप्नोति। भूयांसोऽपशब्दाः अल्पीयांशः शब्दाः। एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा गौरित्यस्य गावी गोणी गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः।

पुनः यह भी अप्रयुक्त शब्दों के विषय में व्यक्त है कि कुछ शब्द किन्हीं स्थानों पर प्रयुक्त है परंतु उसी अर्थ के लिए अन्य स्थानों पर अन्य शब्द प्रयुक्त है। अथवा परिवर्तित होकर प्रयुक्त दिखाई देते हैं। जैसे—अप्रयोगः प्रयोगान्यत्वात्। और भी कहा है 'अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत्'

शब्दप्रयोग विषय में यह भी विचारणीय है कि जैसे एक महान् अनुष्ठान के मध्य अन्य अप्रचलित अनुष्ठान भी संपादित किए जाते हैं। उसी प्रकार व्याकरणशास्त्र को भी यह ध्यान देने का विषय है कि अप्रचलित शब्दों का भी विश्लेषण किया जाए। भाषा की श्रेणी एवं विविधता ऐसी है कि जब तक उसे पूरी तरह विश्लेषण नहीं करते तब तक शब्दों को अप्रचलित और अन्य रूप में प्रमाणित करने के लिए विचार तथ्यों को अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। 'सर्वे देशांतरे'। भगवान पतञ्जलि ने कहा है कि एक जगह नहीं दृष्टिगत होता इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह है ही नहीं अपितु उन अप्रसिद्ध के लिए भी प्रयास करना चाहिए। जैसे शब्द प्रयोग का विशाल स्थान है—महान् हि शब्दस्य प्रयोग विषयः। सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाश्चत्वारो वेदाः, साङ्गाः सरहस्याः, बहुधा भिन्ना एकशतमर्ध्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यं नवधाऽथर्वणो वेदो वाको वाक्यमितिहासः, पुराणं वैद्यमित्येतावानञ्छब्द-प्रयोगविषयः। एतावन्तं शब्दस्य प्रयोगविषयममनुनिशम्यसन्त्यप्रयुक्ता इति वचनं केवलं साहसमात्रम्। (महाभाष्यम् पस्पशाह्निकम्।) आचार्य कात्यायन कहते है कि क्या उनके उपयोग के शब्दांश का ज्ञान है जो हमें अपना ध्यान रूप से पुरस्कृत रूप को उपस्थित करता है। शब्द जब व्यक्तिगत रूप से उपस्थित होता है तो वह स्वरूप का तथा तदर्थ गत व्यापकांश का भी उपस्थापक होता है। इस शब्दांश का ज्ञान हमें धर्म की ओर प्रवृत्त करता है। तो उसे हमारे विपरीत समान रूप से बढ़ने का खतरा होता है। क्योंकि शब्दांश के ज्ञान के बिना अपशब्दांश के ज्ञान के विना वास्तविक ज्ञान होना संभव नहीं होता है, जो कि अनिवार्य एवं आकस्मिक है। साथ ही यह भी असंभव नहीं कि यह ज्ञान लोक से होता है एवं द्वितीय व्यवस्था वेद भी है। जैसे ''तेऽसुराः हेऽलयो हेऽलयो कुर्वन्तः पराबभूवुः।'' अर्थात् वैदिक कथानक के अनुसार हेऽरयो अरयों के स्थान पर अन्यथा करके परास्त हो गए। अर्थात् ये वैदिक कथानक भी असाधु शब्दों के परिहार के प्रति प्रेरित करते हैं। परंतु आज का समग्र विश्व इस द्वितीय पथ को छोड़कर अत्यंत भौतिक वादी लौकिक व्यवस्था पर ही आश्रित है, जो कि एकपक्षी है सर्वत्व को समाहित नहीं कर सकता। शब्दांश के ज्ञान के विषय में बताया गया है कि जो प्रायोगिक शब्दों तथा शास्त्रिक शब्दों अर्थात् प्रकृति प्रत्ययांश विशिष्ट दोनों को जानता है वहीं ही उच्चतम ज्ञानी तथा उच्चस्तरीयता को प्राप्त करता है। एक पक्ष ज्ञानी व्यक्ति ज्ञानी है परंतु स्तर का स्वरूप नहीं होता है। जैसा कि वैदिक शब्दों का ज्ञान जब वैदिक अनुष्ठानों का संपन्न करता है तभी वह

गुणवत्ता पूर्ण कहा जाता है। कहा भी गया है कि 'प्रयोगे सर्वलोकस्य' 'यस्तु क्रियावान् स एव विद्वान्'। कात्यायन ने यह भी स्पष्ट किया कि शास्त्रपूर्वके प्रयोगेऽभ्युदयस्तत्तुल्यं वेदशब्देन। शास्त्रज्ञान पूर्वक प्रयोग में वेदोच्चारण के समान पुण्य की प्राप्ति होती है। कैयट ने उपरोक्त पङ्क्ति का व्याख्यान करते हुए लिखा 'वेदः शब्दो यस्यार्थस्य स वेदशब्दस्तस्य यथा ज्ञात्वानुष्ठानं तथा शब्दानामपि प्रकृत्यादिविभागज्ञानपूर्वकः प्रयोग इत्यर्थः। महाभाष्य में जब यह विचार प्रारंभ हुआ कि शब्द के ज्ञान में धर्म है अथवा प्रयोग में तब कात्यायन ने बहुत ही परिश्रम पूर्वक, कठिनता पूर्वक दोनों पक्षो पर गहन विचार किया प्रारंभ दोनों परिस्थितियों में श्रुति को प्रमाण मानकर प्राथमिक विचार धारा को प्राप्त करता है। वेद, वैयाकरणों के लिए ज्ञान का पहला माध्यम है। जो कि अनुमान के समान नहीं हो सकता। अनुमान प्रमाण उस प्रकार का प्रकर्ष भी नहीं रखता है। कभी भी साधुशब्द का ज्ञान एवं अपशब्द का ज्ञान एक साथ एक समान नहीं हो सकता।

न शिष्टैरनुगम्यन्ते पर्याया इव साधवः।
ते यतः स्मृतिशास्त्रेण तस्मात्साक्षादवाचकाः॥ 151 वाक्यपदीयम्।

साथ-साथ यह शब्द है अपशब्द नहीं है ऐसा जो ज्ञान उसे शब्दज्ञान के एक अविश्वसनीयसंयोग के रूप में स्थापित करने की याचना की जाती है। उस अपशब्द के प्रयोग पर ही उसके ऊपर विचार किया जाता है। इस प्रकार अपशब्द लोक अध्ययन में उपस्थित होकर लोक के समक्ष प्रयुक्त होता रहता है। इस प्रकार अपभ्रंश के विषय में आचार्य कात्यायन के विचार से आचार्य पतञ्जलि का विचार सर्वथा पृथक् है। आचार्य पतञ्जलि का विचार कात्यायन के द्वारा निर्दिष्ट संकल्पात्मक एवं सकारात्मक पक्ष का खंडन कर देता है। आचार्य गोनर्दीय लिखते है कि—

'नैष दोषः। शब्दप्रमाणकाः वयम्। यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्। शब्दश्च शब्दज्ञाने धर्ममाह। नापशब्दज्ञानेऽधर्मः। यच्च पुनरशिष्टाप्रतिषिद्धं नैव तद्दोषाय। तद्यथा हिक्कति हसति कण्डूयति इत्यादीनि नैव दोषाय भवन्ति नाभ्युदयाय। (महाभाष्यम् पस्पशाह्निकम्) आचार्य पतञ्जलि सर्वप्रथम विकल्पों को स्वीकार करते है तत्पश्चात् आपत्तियों को साफ़ करते हैं। श्रुति ''एकः शब्दः सम्यज्ञातः सुप्रयुक्तः शास्त्रान्वितः स्वर्गे लोके च कामधुनग्भवति'' अर्थात् शब्दांश का ज्ञान धर्म की ओर प्रवृत्त करता है। अपशब्दांश का ज्ञान पापपूर्ण के रूप में निंदा नहीं करता है। जैसे सब्र, धैर्य, खरोच इत्यादि क्रियाएँ न तो शास्त्र के द्वारा सौपी गई हैं, न ही निषेध की गई है।

और न तो उन क्रियाओं से अभ्युदय होता है न ही धर्म होता है। शब्दांश ज्ञान और अपशब्दांश ज्ञान को जानने की विधियों में नियतता नहीं है अपितु अंत रहित है। जगत् में शब्द ज्ञान से मुख्य कोई भी वस्तु नहीं हो सकती क्योंकि कोई भी व्यक्ति जब तक शब्द को नहीं जानता तब तक किसी भी वस्तु के प्रति प्रवृत्ति नहीं होती तथा अन्य किसी भी अनुसंधानादि कार्य का संपादन भी नहीं होता।

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिवज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥123 वाक्यपदीयम्
सा सर्वविद्याशिल्पानां कलानां चोपबन्धनी।
तद्वशादभिनिष्पन्नं सर्वं वस्तु विभज्यते॥125 वाक्यपदीयम्

जब कि श्रुति कहती है शब्दज्ञान का तात्पर्य होता है कि ज्ञान का उदाहरण या व्यवहार के माध्यम से अधिग्रहीत किया जाना अर्थात् अपशब्दांश का ज्ञान तो पूर्व में ही समाप्त हो गया है। यदि अपशब्दों को देखा भी जाए तो वे अपशब्दांश का ज्ञान भी साधु शब्दों के ज्ञानार्थ ही होता है। साथ ही साथ साधु शब्द के ज्ञान से धर्म ही होता है। अपशब्द ज्ञान से अधर्म की उत्पत्ति का प्रावधान अभिहित नहीं है। तुष्यतु दुर्जनन्यायेन यदि कोई माने कि जैसे साधु शब्द ज्ञान से धर्म उसी प्रकार अपशब्दज्ञान से अधर्म भी निश्चप्रच है तो इस परिस्थिति में कूपखानकन्याय द्वारा समाधान जानना चाहिए। जैसे कूप खोदने की स्थिति में खनन कर्ता मिट्टी धूल आदि से धूसरित हो जाता है, तथा अनेक कीड़े मकोड़े की मृत्यु होती है, परंतु उससे उत्पन्न जल द्वारा अपने शरीर की गंदगी को धो देता है तथा पथिकादि के जलपान के द्वारा उत्पन्न जो पुण्य उससे अन्य पापों की निवृत्ति हो जाती है। उसी प्रकार साधु शब्द के द्वारा उत्पन्न पुण्य ज्ञान द्वारा असाधु शब्द जनित पाप और अज्ञान का परिहार समझना चाहिए। महर्षि पतञ्जलि द्वारा इसी प्रकार के एक विषय पर चर्चा भी की गई है।

यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान्यथावद् व्यवहारकाले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः॥
(पस्पशाह्निकम् महाभाष्यम्)

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि जो अज्ञानी पुरुष है वह केवल अपशब्दांश मात्र को जानना है। वह सुरक्षा प्रदायक ज्ञान राशि को नहीं जानता तथा सतत पाप पथ पर प्रवृत्त रहता है। 'विज्ञानं तस्य शरणम्' महाभाष्य के व्याख्याकार सर्वतन्त्रस्वतन्त्र

आचार्य नागेश उपरोक्त मन्त्र के व्याख्यान उद्योत टीका में लिखते हैं कि अपशब्द प्रयोग ही अधर्म का हेतु है ज्ञान मात्र से दोष नहीं होता है। यह धर्माधर्म शब्दापशब्द का नियम वैदिकपद्धति में ही लागू होता है। सामान्य व्यवहार में लागू नहीं होता। धर्मनिरपेक्ष भाषणादि में व्यवहृत नहीं होता है। आचारे नियमः, न म्लेक्षितवै नापभाषितवै, यर्वाणस्तर्वाणः इत्यादि समस्त व्यवहार शास्त्रीय अवसरो तक ही सीमित हैं न कि सार्वत्रिक है। इस संबंध में आचार्यपतञ्जलि ने दो प्रकार का उद्धरण दिया है प्रथम बलिदान की परंपरा प्रदर्शन में शामिल नहीं थी। उच्चारण विधि भी वैदिकानुष्ठान में ही अपेक्षित होती है सामान्यव्यवहार में शास्त्रीय नियमों का पालन शत् प्रतिशत संभव नहीं होता है। महावैयाकरण भट्टोजिदीक्षित ने अपने स्वरचित शब्दकौस्तुभ नामक दार्शनिकग्रंथ में महर्षि पतञ्जलि को आधार मानकर लिखा है कि—तत्रेदं भाष्ये सिद्धांतितम्। याज्ञे कर्मण्येवायम्। न म्लेच्छत वा इत्यस्य ऋतुप्रकरणे पाठात्। ऋतुप्रयोगाद् बहिस्तु अपशब्दं प्रयुञ्जानो न दुष्यति। उपरोक्त विचार के विषय में प्रो. चक्रवर्ती का कथन है कि यह विचार कात्यायन का ही है न कि आचार्य पतञ्जलि का। यद्यपि महर्षि पतञ्जलि कहते हैं।

> *''समानायामर्थावगतौ शब्देन चापशब्देन च धर्मनियमः क्रियते।*
> *शब्देनैवार्थोऽभिधेयो नापशब्देनेति।*
> *एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवतीति॥ महाभाष्यं पस्पशाह्निकम्।''*

उपरोक्त वचन से महर्षि पतञ्जलि का मत भी यही स्पष्ट होता है कि वे भी सामान्य व्यवहार में अपभ्रंश के प्रयोग की अनुमति प्रदान करते हैं। उपरोक्त आचार्य कात्यायन एवं महर्षिपतञ्जलि दोनों के विचारों में महर्षि पतञ्जलि का मत कुछ और ही उन्मुक्तता प्रदान करता है। क्योंकि जहाँ कात्यायन वैदिक एवं लौकिक दोनों का उल्लेख किया वहीं पर महर्षि समानरूप से शब्दापशब्द दोनों को लौकिक एवं वैदिक दोनों जगहों के लिए दिखाया है। महर्षि पतञ्जलि की तुलना से आचार्यकात्यायन का कही भी सामान्यत्व द्योतित नहीं होता क्योंकि मूल में वहीं हैं। इस प्रकार का चिंतन अवश्य ही महर्षि पाणिनि से लेकर पतञ्जलि पर्यंत आचार्यों का इतिहासकारों के लिए प्रदर्शनीय विषय होगा। त्रिमुनियों का उत्तरोत्तर चिंतन अनेकानेक रूढ़िवादिता को खत्मकर वास्तविका का प्रत्यक्षकारक है। महर्षि पतञ्जलि अपने शब्दानुशासन के उद्देश्यों में मुख्यरूप से परमप्रमाणभूत वेदों की सुरक्षा के लिए चिंतित हैं। क्योंकि महाभाष्यारंभ में ही रक्षोहागमलघ्वसंदेहाः प्रयोजनम्। रक्षार्थं वेदानामध्येय

व्याकरणम्। लोपागमवर्णविकारज्ञो हि वेदान् सम्यग् परिपालयिष्यति। प्रधानं च षडङ्गेषु व्याकरणम् इत्यादि। साथ ही साथ यह भी कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि महर्षि पाणिनि के उपरांत ही वेदविषय अध्ययन में अधिक जागरुकता हुई। उसी का और भी जागृत रूप आचार्य कात्यायन एवं पतञ्जलि ने भी समर्थन किया। यह पाणिनि व्याकरण ही लौकिक एवं वैदिक उभय भाषा समर्थक दृष्टिगत होता है। अन्य व्याकरण तो एकाङ्गी मात्र है यदि लौकिक परक तो लौकिक परक, यदि वैदिक परक तो वैदिक परक। वैदिक वाङ्मय की व्यापकता को महर्षि पाणिनि नियंत्रित करने का बहुधा प्रयास किया किंतु फिर भी वह वैदिकवाङ्मय नियंत्रित नहीं हो पाया। तदर्थं कितना कहा जाए आचार्य पाणिनि छन्दसि बहुलम् का ग्यारह बार आवर्तन किया जब नियंत्रित नहीं हुआ तो अन्य उपायों का भी प्रदर्शन चक्षु प्रत्यक्ष होता है। यथा 'छन्दसि दृष्टानुविधिः, छान्दसत्वात्, वेदविहित्त्वात्, इत्यादि। सिद्धांततः हम कह सकते हैं कि छः अलग-अलग विज्ञानों का वेदाङ्ग के अंतर्गत समूहीकृत किया गया। जिसका भगवान् मनु ने मनुसंहिता में प्रवाणक नाम दिया। छान्दोग्योपनिषद् में अध्ययन के तत्कालीन विषयों की सूची भी उपलब्ध होती है। इसके अंतर्गत व्याकरण एवं शिक्षा को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। परंतु उपरोक्त पद्धति से वेदाङ्गों का उल्लेख नहीं किया जाता है। क्योंकि समस्त अङ्ग स्व स्व सिद्धांत, आचार, परंपरा, इत्यादि से परिपूर्ण हैं तो सब का समूहात्मक उपस्थिति करना उचित नहीं प्रतोत होता है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि व्याकरण को विभिन्न तरीक़े से अन्यान्य लेखकों द्वारा प्रदर्शित किया गया है। जैसा कि कात्यायन आचार्य का प्रदर्शन देखा गया। वे इसे धर्मशास्त्र के रूप में मानते हैं। उनके द्वारा सिखाए गए शब्दांश का उच्चारण वैदिक अनुष्ठानों के प्रदर्शन की तरह धार्मिक सत्कृत्यों में भाग लिया गया बताया गया है। उनके अनेक वार्तिक का धर्मशास्त्रीय सिद्धांतों से समानता समक्ष होती है अति सामान्य लोगों के साथ तथा उनके विषय में बात करना निषिद्ध प्राय है। तात्पर्य यह है कि शास्त्र बुद्धि रखने वाला व्यक्ति अति सामान्य स्तर पर सफल होता नहीं दृष्टिगत होता। 'नाव्यपवृक्त स्यावयवे तद्विधिर्यथा द्रव्येषु' आचार्य पतञ्जलि लिखते हैं तद्यथा द्रव्येषु सप्तदश सामिधेन्यो भवन्ति इति न सप्तदशारत्निमात्रं काष्ठामग्नावभ्यधीयते। (ए.एस.3-4 बोलुम 9 पृष्ठसंख्या 25) अनुकरणं शिष्टाशिष्टप्रतिषिद्धेषु यथा लौकिकवैदिकेषु (ए.एस.2-3, वोलुम 3) धर्मशास्त्रं च तथा इत्यादि। (पृष्ठसंख्या 1.2.64. बोलुम 39) सिद्धं तु धर्मोपदेशनेऽनवयवविज्ञानाद्यथा लौकिकवैदिकेषु आचार्य पतञ्जलि

कहते हैं सिद्धमेतत्। कथम्? धर्मोपदेशेनमिदं धर्मशास्त्रम्। महर्षि पतञ्जलि व्याकरणशास्त्र को प्रधान कर्म एवं नित्य कर्म के रूप में अध्ययन के लिए वर्णित करते है।'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च। दार्शनिकाचार्य भर्तृहरि व्याकरण को आगम एवं वेदाङ्ग दोनों नामों से वर्णित करते हैं। वाक्यपदीय में लिखित भी है कि—

यः पतञ्जलि शिष्येभ्यो भ्रष्टो व्याकरणागमः।
प्रथमं छन्दसामङ्गं प्राहुः व्याकरणं बुधाः॥

मीमांसा दर्शन के आचार्य कुमारिल भट्ट जी भगवान् पतञ्जलि के सिद्धांतों का ही समर्थन करते हुए व्याकरणशास्त्र को सर्वोच्च वेदाङ्ग एवं स्मृति नाम से अभिहित किया। आचार्य नागेश भट्ट अक्षरसमाम्नाय को रहस्योद्घाटक के रूप में स्वीकार करते हैं। अन्यान्य आचार्यो की अपेक्षा महर्षि पतञ्जलि की व्याख्यान पद्धति ही व्यापक मुद्रा को प्राप्त करती है। महर्षि की व्याख्या पद्धति एक उदाहरण से नहीं अपितु अनेक उदाहरणों से ओतप्रोत देखी जाती है।'इमानि च भूयः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि' जो कि पूर्व पूर्व कार्यो के ऊपर निर्धारित प्रतीत होती है। तेभ्य एवं विप्रतिपन्नबुद्धिभ्योऽध्येतृभ्य आचार्य इदं शास्त्रमन्वाचष्टे। इमानि प्रयोजनान्यध्येयं व्याकरणमिति उदाहरण संबंधी चर्चा आने पर आचार्य पतञ्जलि का उदाहरण ही दिया जाता है। कैयट एवं नागेश ने कात्यायनातिरिक्त ही उदाहरणादि को पढ़ा है। कात्यायनोक्त पद्धति में काठिन्य का अनुभव किया गया। यह वैचारिक भेद अत्यंत चिंतन का विषय नहीं है क्योंकि स्वतः सिद्ध बहुविचारणीय नहीं होता। आचार्य पतञ्जलि एवं कात्यायन दोनों ने स्व स्व मतानुसार उदाहरण सिद्धांत एवं पद्धतियों का विश्लेषण किया है। आचार्य पतञ्जलि का विचार लौकिक वैदिक के साथ-साथ आध्यात्मिक भी है। यह उनका अपना व्यक्तिगत मत है। तथा वे ही ऐसे पहले वैयाकरण है जो कि आध्यात्मिक चिंतन का भी प्रारंभ किया। यदि पतञ्जलि व्याकरण शास्त्र का आध्यात्मिक चिंतन का प्रारंभ किया तो कात्यायन अनुष्ठान विधि का प्रत्यक्ष कराया। महर्षि पतञ्जलि का उद्धरण राजभाषा के दृष्टि कोण से भी विस्तारित किया जाता है। जैसे—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

महाभाष्य में दी गई इन व्याख्याओं का पूर्व पाणिनि परिकल्पना है। अक्षरों

का चतुर्धा विभाजन चत्वारि वाक्परिमिता पदानि इत्यादि निःसंदेह पूर्व पाणिनीय तथा पर पाणिनीय दोनों प्रकार का माना जाता है। उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि व्याकरणशास्त्रीय दृष्टिकोण में कात्यायन का आनुष्ठानिक है। कात्यायन के चिंतन के प्रभाव अप्रभाव के विषय का विवेचन परवर्ती व्याख्याकारों का विषय है।

लक्ष्यैक चक्षुष्क आचार्य पतञ्जलि तथा उनका यथार्थवाद

आचार्य पाणिनि एक अत्यंत ही व्यवहार कुशल वैयाकरण हैं। उन्होंने वैदिततत्त्वों के समस्त यथार्थतात्त्विकसिद्धांतों के प्रतिपादन के साथ लौकिक समस्त व्यवहार संगत शब्दार्थों को ध्यान में रखकर सूत्रपाठ, गणपाठ, लिङ्गनुशासन आदि प्रकरणों का अनुशासन किया। वहीं पर कात्यायनाचार्य वार्तिकों का विधान कर व्याकरणशास्त्र का बहुधा विस्तार किया। यद्यपि आचार्य कात्यायन का जो वार्तिक का लक्षण है वह इस प्रकार से है—

उक्तनुक्तदुरूक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।
तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहु: वार्तिकज्ञा मनीषिण:।

सामान्य अर्थ यह हैं कि आचार्यो द्वारा उक्त का भी अभिधान करेंगे। अनुक्त का भी करेंगे। तथा जो अकथित है उसका भी अभिधान करेंगे। परंतु आचार्य कात्यायन वार्तिक निर्माण प्रक्रिया के दौरान महावैयाकरण पाणिनि आचार्य का तथा उनकी भावनाओं का ध्यान रखते है। कभी-कभी वे उन्हें याद भी करते है। जैसे अध: प्रदत्त उदाहरण से संगत होता है। (अतिप्रसङ्ग इति चेदभिधानलक्षणत्वात्प्रत्ययस्य सिद्धम् 3.3.19 वार्तिकसंख्या 3) वे पाणिनि को परमोदार एवं यथार्थाचार्य मानते हैं। आचार्य पतञ्जलि ने अनौपचारिक सिद्धांत का सामाना किया है। अर्थात् सदैव अत्यंत नज़दीकी से सिद्धांतों का अनुभव किया है। आचार्य पतञ्जलि के मत में व्याकरण और भाषा अत्यंत समीपवर्ती प्रतिपादित किया गया है। वह इस प्रकार है कि जो प्रयोगों के माध्यम से सूत्रों को देखता है। अर्थात् प्रयोग हुआ भाषा तथा सूत्र हुआ व्याकरण दोनों बहुत ही पार्श्वस्थ हैं। लक्षणैका चक्षुष्क तथा लक्ष्यैक चक्षुष्क के मध्य आदर्शवाद तथा यथार्थवाद का अथवा सिद्धांतवाद एवं अभ्यासवाद का

पार्थक्य है। कोई भी लोकप्रसिद्ध भाषाश्रित घटना अपने अंतर्गत किसी भी वैदिक अथवा शास्त्रीय सिद्धांतों को स्वतः में सम्मिलित नहीं करती है तथा लोकप्रिय उपयोग द्वारा समर्थित भी नहीं है। उन घटनाओं को व्याकरणिक उपचार के लिए अनुप्रयुक्त भी माना जाता है। उपरोक्त कथन इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है। आचार्य पतञ्जलि ने लिखा 'नैकमुदाहरणं योगारम्भं प्रयोजयति। (3.1.67) और आचार्य पाणिनि के सूत्र 'परेश्च घाङ्कयोः' (8.2.22) सूत्रार्थ इस प्रकार है। परि उपसर्ग पूर्वक रेफ को लादेश होता है। घ शब्द एवं अङ्क शब्द के परे रहते। यहाँ पर घ से घ शब्द लेना चाहिए। घ संज्ञक नहीं लेना चाहिए। इस सूत्र में दो उदाहरण दिए गए हैं। पलिघः, परिघः, पल्यङ्कः, पर्यङ्कः। इसी प्रकार अग्नेर्ढक् भी समझना चाहिए। कात्यायन ने ''सङि लत्वसलोपसंयोगादि लोपकुत्वदीर्घत्वानि''। प्रयोजनम् गिरौ गिरः, पयो धावति द्विष्टराम्, दृष्टस्थानम्, काष्ठशक्स्थाता क्रुञ्चा धुर्य इति।'' इस वार्तिक में सर्व प्रथम कार्यों को पढ़ा है। जैसे—सङ् के परे रहते लत्व, सलोप, संयोगादिलोप, कुत्व, दीर्घ इत्यादि। उसके बाद उसके प्रयोजन को दर्शाया है। तत्पश्चात् वार्तिक पाठ प्रयोजन को भी दर्शाया है। परंतु कात्यायन के वार्तिक को पकड़कर आचार्य पतञ्जलि गंभीरता पूर्वक विचार करके कहते हैं कि—एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। काष्ठशगेव नास्ति। कुतो यतः काष्ठ शकि तिष्ठेत्। अर्थात् आचार्य पतञ्जलि कहते हैं कि कात्यायनोक्त उदाहरण का प्रयोग ही नहीं उपलब्ध होता। उपरोक्त प्रयोग के विषय में वार्तिककार संदर्भित करते हुए लिखते हैं कि काष्टशक्स्थाता जो कहा है उसके पीछे पाणिनि रचित सूत्र 'स्कोः संयोगाद्योरन्त्ये च' है वह इस प्रकार—इस सूत्र का योग विभाग करके सूत्र के उदाहरण के विषय में विचार किया तो शङ्ग अथवा शंक क्या दिया जाए ऐसा सोचकर इस प्रकार के प्रसङ्गों का निराकरण किया गया। यह शब्द काष्ठशक् यह स्वयं नहीं निकलता इत्यादि स्थिति को देखकर पतञ्जलि ने कहा कि इस प्रकार का शब्द उदाहरण बनेगा ही नहीं। आचार्य पतञ्जलि ने इस प्रकार का विचार पाणिनि आचार्य के अन्यान्य सूत्रों पर भी लिखते हैं—

1. ष्णान्ता षट् (1.1.24) यद्येवं प्रियाष्टौ प्रियाष्टा इति न सिध्यति। प्रियाष्ठानौ प्रियाष्ठान इति च प्राप्नोति। यथालक्षणमप्रयुक्ते।
2. दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम् (2.2.34) यद्येवमेनश्रितको न सिध्यति। एनच्छ्रितक इति प्राप्नोति। यथालक्षणमप्रयुक्ते।
3. हल्ङ्याभ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृमक्तं हल् (6.1.6.8) यद्येवं कीर्तयतेरप्रत्ययः

कीरित प्राप्नोति कीर्त इति चेष्यते। यथालक्षणमप्रयुक्ते ।

4. षत्वतुकोरसिद्धः (6.1.86) यद्येवं वेडोऽप्रत्यये उरिति प्राप्नोति। उदिति चेष्यते। यथालक्षणमप्रयुक्ते ।
5. हलः (6.4.2) एवमपि कर्तुचा कर्तुचे अत्र न प्राप्नोति यथालक्षणमप्रयुक्ते ।
6. च्छ्वोः शुडनुनासिके च (6.4.19) तथा वाञ्छतेरप्रत्ययो वान वांशौ वांश इति न सिद्ध्यति। यथालक्षणमप्रयुक्ते ।
7. प्रकृत्यैकाच् (6.4.163) पयिष्ठ इति न सिध्यति पयसिष्ठ इति प्राप्नोति। यथा लक्षणमप्रयुक्ते ।
8. तदोः सः सावनन्त्ययोः (7.2.106) द्व इति प्राप्नोति स्व इति चेष्यते। यथालक्षणमप्रयुक्ते ।

महाभाष्यार्थ के टिप्पणकार यथालक्षणमप्रयुक्ते इस वचन का सार्थक व्याख्यान करते हैं। जैसे कैयट ने कहा—नैव वा लक्षणमप्रयुक्ते प्रवर्तते। प्रयुक्तानामेव लक्षणेनान्वाख्यानात्। तात्पर्य यह है कि लक्षण के द्वारा प्रयोगों की सिद्धि नहीं होती अपितु प्रयुक्त शब्दों का सूत्रों के द्वारा अन्वाख्यान किया जाता है। आचार्य नागेश भट्ट लिखते हैं कि लक्षणस्याभावोऽलक्षणम्। तस्य योग्यता यथालक्षणमिव्यव्ययीभावः। अप्रयुक्ते लक्षणाभावस्यैव योग्यता न तु लक्षणस्येत्यर्थः। यथालक्षण शब्द में अव्ययीभाव समास है। लक्षण के अभाव को अलक्षण कहते हैं। यथा अलक्षणम् यथालक्षणम्। अर्थात् अलक्षण के योग्य जो है उसे यथा अलक्षण कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जहाँ अलक्षण की योग्यता है अर्थात् सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है। उपरोक्त व्याख्यान से स्पष्ट होता हे कि महर्षि पतञ्जलि का उदार यथार्थवाद। व्याकरण शब्दांश का एक अनुशासन है। 'अथ शब्दानुशासनम्' एक अन्वाख्यान=संस्कारक है। तथा अस्तित्व से संबंधित है। काल्पनिक नहीं है। यह एक साधन है। भर्तृहरि ने भी लिखा कि—

उपायाः शिक्षमाणानां बलानामुपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते॥

पाणिनि आचार्य का वार्तिककार के द्वारा पद पद पर स्वकृत वार्तिकों के द्वारा मनोरंजन करना तथा कुछ कठोर रूप में उपस्थित करना उनका अपमान नहीं समझना चाहिए अपितु उनके सम्मान में अपूर्ण या दोषपूर्ण बनने से बचाने हेतु

प्रयास समझना चाहिए। ऐसे स्थलों पर महर्षि पतञ्जलि वार्तिककार को यह कहते है कि कोई भी व्याकरण वास्तविक भाषा की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर सकता। जिसके लिए आचार्य कात्यायन चिंतित हैं। अर्थात् वार्तिककार के द्वारा किया गया मनोरंजन या भीति की स्थिति के द्वारा पाणिनि को सुधारने का जो प्रयास वह सर्वथा अनर्थक है।

कुछ उदाहरणों में अन्य आचार्यो द्वारा प्रदर्शित वैचित्र्य इस प्रकार है—

1. पाणिनि सूत्र-– तस्येदम् (4.3.120) इसमें कात्यायन कहते हैं अनंतरादिषु च प्रतिषेधः। महर्षि पतञ्जलि—अनंतरादिषु प्रतिषेधो वक्तव्यः। तस्यानन्तरस्तस्य समीप इति। किं यद्योगा षष्ठी प्रवर्तते इत्यतोऽनन्तरादिषु प्रतिषेधो वक्तव्यः। नेत्याह। सर्वथानन्तरादिषु प्रतिषेधो वक्तव्य इति न वक्तव्यः। अनभिधानादनन्तरादिषूत्पत्तिर्न भविष्यति। इस प्रकार महर्षि पतञ्जलि ने कात्यायनोक्त वचन को अस्वीकार कर दिया।

2. पाणिनि सूत्र—विध्यत्यधनुषा (4.4.83) में कात्यायन लिखते हैं विध्यत्यकरणेन। पतञ्जलि लिखते है—विध्यत्यकरणेनेति वक्तव्यम्। कात्यायन—इतरथा ह्यतिप्रसङ्गो भवति। इहापि प्रसज्येत। शर्कराभिर्विध्यति। कण्टकैर्विध्यतीति। महर्षि पाणिनि का मत—तत्तर्हि वक्तव्यम्। न वक्तव्यम् कस्मान्न भवति शर्कराभिर्विध्यतीति कण्टकैर्विध्यतीति। अनभिधानात्।

लक्षणैकचक्षुष्क टिप्पणीकार

व्याकरणशास्त्रीय परंपरा में दो शब्द ख़ूब महत्त्वपूर्ण दृष्टिगत होते हैं। एक तो लक्ष्यैक चक्षुष्क तथा द्वितीय लक्षणैकचक्षुष्क। लक्ष्य प्रयोग अर्थात् प्रयोगों को देखकर जब सूत्रादि का निर्माण किया जाता है तो उसे लक्ष्यैक चक्षुष्क कहा जाता है। वे लोग ऋषि महर्षि इत्यादि ही हैं। इस विषय में आचार्य भर्तृहरि लिखते हैं—

अविभागात् विवृततानामभिख्या स्वप्नवच्छ्रुतौ।
भावतत्त्वं तु विज्ञाय लिङ्गेभ्यो विहिता स्मृतिः ॥ 146 ब्र.का.वा.

परंतु उन सूत्रों को आधार मानकर जो परवर्ती आचार्य प्रयोगों की व्यवस्था देते हैं उनको लक्षणैक चक्षुष्क कहा जाता है। जैसे काशिकाकार, प्रक्रियाकौमुदीकार, भट्टोजिदीक्षितादि आचार्यों को लक्षणैकचक्षुष्क श्रेणी में रखा जाता है। यद्यपि आचार्य नागेश भी लक्षणैकचक्षुष्क परंपरा में हैं फिर भी वे आचार्य पाणिनि के प्रति इस

प्रकार समर्पित हैं कि वे उनके उदारवादी एवं यथार्थवादी आवश्यकताओं का पुनः पुनः स्मरण दिलाते रहते हैं। आचार्य नागेश कभी भी परमाचार्य पाणिनि की प्रशंसा करने में अपने को थका हुआ नहीं दिखाते। पूर्ववर्त्ती आचार्यों का स्व पूर्ववर्ती आचार्यों के प्रति जिस प्रकार का मान सम्मान दिखता है वह आज के आधुनिक विद्वानों में कहीं स्व प्रतिष्ठा के पक्ष में ही दिखाई देता है, तथा उनके उदाहरण की शैली भी अत्यंत भौतिक एवं लौकिक शास्त्र के चिंतन से परे प्रतीत होती है। जैसे—अत्रोच्यते। कुस्मयतेः कूरित्यादिसिद्धये संयोगादिति वाच्यमेव। किञ्च तक् रक् इत्याद्यर्थमपि वक्तव्यम्। न चानभिधानं प्रमाणाभावात्। कैयटादिभिरूदाहरत्वाच्च। तक्षयतेः क्विपि वक्। रक्षयतेस्तु रक्। स्कन्दयतेः स्कन्। (शब्दकौस्तुभ प्रथमभाग, पृष्ठसंख्या 308–309)

काव्यं कलत्रं शाल्वं चाचक्षाणः काव्, कलत्, शाल्, अदभ्रयतेरधव्। (प्रौढमनोरमा प्रथमभाग पृष्ठसंख्या 98)। शक्युः पक्युः शुष्क्यः पक्यः। पन्थानमात्मान इच्छति पथीयति। ततः क्विप् अल्लोपः यल्लोपः। एकदेशविकृतस्यानन्यात् पथिमथीत्यात्वम्। थोन्थः, पन्थाः। भट्टोजिदीक्षित ने 'मय उञो वो वा' (8.3.33) सूत्र में उवर्ण का उ इति इत्यादि स्थलों पर रूपों की 28 परिकल्पना करते हैं। तथा संस्कर्ता के 108 एवं गवाक् इत्यादि का 527 रूपों की परिकल्पना की जाती है सभी का आधार लक्षण (सूत्र) ही है। लिखा भी है।

गवाक् शब्दस्य रूपाणि क्लीबेऽर्चागतिभेदतः।
असन्ध्यवाङ् पूर्वरूपैर्नवाधिकशतं मतम्॥
स्वम्सुप्सु नव षड्भादौ षट्के स्युस्त्रीणि जश्शसोः।
चत्वारि शेषे दशकं रूपाणीति विभावय।
ऊह्यमेषां द्विर्वचनानुनासिकविकल्पनात्।
रूपाण्यश्वक्षि भूतानि भवन्तीति मनीषिभिः॥ सि. कौ.

पतञ्जलि द्वारा इन रूपों की सीमा के मुक़ाबले कहीं और पृथिवी की खोज सात महाद्वीपों के साथ की जानी चाहिए। यहाँ तक कि यदि वैयाकरणज्ञों के उदाहरण के बाद कुछ लेखकों द्वारा उपयोग किया जाता है तो यह प्रचलित होने का कोई वास्तविक प्रमाण नहीं होगा। यदि पाणिनि व्याकरण को शब्दानुशासन के साथ-साथ सख्ती ऐतिहासिक भी माना जाए तो पाणिनि और पतञ्जलि द्वारा स्थापित आदर्श किसी से भी कम नहीं है। आचार्य पतञ्जलि महाभाष्य के पस्पशाह्निक में

लिखते हैं कि "ये पुनः कार्या भावाः निर्वृत्तो तावत्तेषां यत्नः क्रियते। यद्यथा—घटेन कार्यं करिष्यन् कुम्भकारकुलं गत्वाऽह कुरू घटं कार्यमनेन करिष्यामीति। न तद्वच्छब्दान् प्रयुयुक्षमाणों वैयाकरणकुलं गत्वाऽह कुरू शब्दान् प्रयोक्ष्य इति।"

आचार्य पतञ्जलि जैसे परमाचार्य के प्रति समर्थित हैं उसी प्रकार आचार्य नागेश भी परमाचार्य के प्रति समर्पण का प्रदर्शन करते हैं। आचार्य नागेश भी पतञ्जलि के अनुगामी हैं। साथ-साथ आचार्य नागेश कुछ अन्याचार्य प्रदर्शित सिद्धांतों का त्याग भी करते हैं। जैसे—"एकवचनं सम्बुद्धिः (2.3.49)" सूत्र में भट्टोजिदीक्षित केवल सुम्बुद्धिरित्येव सुवचनम् इतना मात्र कहा। परंतु आचार्य नागेश भट्ट भट्टोजिदीक्षित के वचन का समर्थन करते हुए लिखा आचार्य पाणिनि द्वारा लिखित एकवचनम् का तात्यपर्य अदृष्टोच्चारण है। इतना सुंदर विचार पतञ्जलि एवं नागेश का ही दृष्टि गत होता है, और भी उदाहरण जैसे—परे तु न पदान्ता हलोऽणः सन्तीति लण् सूत्रस्थभाष्याद् वृक्षवादेरनभिधानमेव। भो भगो इति सूत्रेऽश् ग्रहणमनर्थमन्यत्राभावादिति वार्तिकाच्च। अशोऽन्यत्र तन्निमित्तकार्यिणोरभावादिति तदर्थः। न ह्यन्यत्र रूरस्तीति तद् व्याख्यानभाष्ये रूग्रहणमुपलक्षणम्...लघुशब्देन्दुशेखरः प्रथमे भागे। इतोऽपिक्विस्त्वादन्तेभ्यो भाष्यानुक्त क्विब्भ्योऽनभिधानमेव। एवं च साशब्दादेः यद्यभिधानम्। (लघुशब्देन्दुशेखरःप्रथमभागे काशी संस्कृत सिरीज)।

आचारक्विबन्तप्रकृतिककर्तृक्विबन्तस्य भाष्ये क्वाप्यनुपन्यासेन तेभ्यः कर्तृक्विपोऽभिधानस्यैव लाभाच्च। 366-367 लघुशब्देन्दुशेखरः। इतरसूत्रविषयोदाहरणाभिधानम्। अधिकरणे क्यच् तु नास्त्येव अनभिधानात्। मघवत् शब्दस्य लोकेऽसाधुत्वम्। एतेन पथीयतेः क्विपि पन्था इत्यादीत्यपास्तम्। नैवं वा लक्षणमप्रयुक्ते प्रवर्तते प्रयुक्तानामेव लक्षणेनान्वाख्यानादित्यन्त्य व्याख्यानमेव ज्यायः। और भी दोनों आचार्यो के वैशिष्ट्य प्रतिपादनार्थ अन्य उदाहरणों का भी संकलन किया जा सकता है।

महर्षि पतञ्जलि एवं भाषाई परिवर्तन

अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयं भुवा।
आदौ वेदमयी सृष्टिः यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥

इस वचन से सिद्ध होता है कि वाग् अनादि तथा अनिधन रूप से परं ब्रह्म ने रचा। उस ब्रह्म रचित वाग् पर समय-समय पर ऋषि महर्षियों ने स्व-स्व मतानुसार अपने-अपने विचार प्रस्तुत किये। उसी क्रम की जाग्रत शृङ्खला में महर्षि पतञ्जलि भी तत् विषय में अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। आचार्य पाणिनि एक सामान्यासामान्योभय लक्षण विशिष्ट सूत्राष्टाध्यायी की रचना की। जो कि सूत्रात्मपद्धति में है। परंतु उन सूत्रों का वैज्ञानिकविश्लेषण आचार्य कात्यायन एवं पतञ्जलि ने जन समक्ष किया। दोनों आचार्यो के सिद्धांतों में विचारों में महान् भेद है। एक और भी तथ्य कि उन आचार्यो के पश्चात् भी वैयाकरणों ने अपने चिंतन की धारा को विराम नहीं दिया यद्यपि बीच-बीच में अनेक विसंगतियाँ, कालकृत व्यवधान, प्रतिपादनशैली परिवर्तन, आधुनिकता का प्रभाव, सभी अपना प्रभाव दिखाया परंतु फिर भी वे नित्यप्रति चरैवेति चरैवेति के वैदिकसिद्धांत पर चलते ही रहे। उस सचल क्रम में हमारे मतानुसार किसी का भी किसी के साथ परस्पर स्पर्धा, विरोध या वैचित्र्य नहीं मानना चाहिए अपितु सभी एक ही शास्त्र का नाना प्रकार से प्रगति पथ पर ले जाने का प्रयास मानना चाहिए। लेखन, चिंतन, प्रतिपादन, संपादन के वैचित्र्य होने पर भी तात्पर्य विकास में ही है। उसी प्रकार पाणिनि कात्यायनादि में भी समझना चाहिए। इस विकास की धारा में केवल भारतीय विद्वानों ने ही नहीं प्रयास किया अपितु पाश्चात्यधारा के विद्वान कीलहार्न, मैक्समूलर इत्यादि ने भी भाषा एवं चिंतन के वैचित्र्य से इस शास्त्र परंपरा का संबर्धन किया। वे लोग भी व्याकरण शास्त्र के वैज्ञानिक चिंतन की गति कात्यायन एव पतञ्जलि से ही मानते

हैं।

पाणिनिसूत्र '**सर्वादीनि सर्वनामानि**' (1.1.29) में अर्थ निरूपण में लिखा गया कि सर्वादिगण पठित शब्द स्वरूपों की सर्वनाम संज्ञा होती है। पुनः विचार हुआ यहाँ कौन सा समास है उत्तर दिया बहुव्रीहि समास। इस समास में अन्य पदार्थ प्रधान होता है। तो सर्व शब्द की कैसे सर्वनाम संज्ञा होगी। पुनः उत्तर दिया गया कि 'तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि' मानने से सर्व की भी सर्वनाम संज्ञा सिद्ध होगी। वहीं पर ही उभ शब्द का सर्वादिगण में पाठ का क्या फल है इस प्रस्ताव में उत्तर दिया गया कि अकच् प्रत्यय की सिद्धि हेतु। उसका फल त्वत्कपितृकः मत्कपितृकः माना, कात्यायन ने उसका समर्थन किया। परंतु पतञ्जलि शब्द शास्त्रीय वैज्ञानिक चिंतन में उपरोक्त उदाहरण के स्थान पर त्वकत्पितृकः, मकत्पितृकः प्रयोग को स्वीकार करते हैं। क्योंकि अकच् प्रत्यय टिसंज्ञक के पूर्व में होता है।

आचार्यपाणिनि के आत्मनेपद की व्यवस्था में सूत्र लिखा "**उपान्मन्त्रकरणे** (उपात् मन्त्रकरणे) अर्थः मन्त्रकरणे विद्यामानात् उपपूर्वात् स्थाधातोः आत्मनेपदं भवति। यथा आग्नेय्याऽग्नीध्रम् उपतिष्ठते। (उपाद्देवपूजासंगतिकरणमित्रकरणपथिष्विति वाच्यम्) जैसे देवपूजा अर्थ में आदित्मुपतिष्ठते। संगतिकरण अर्थ में—गङ्गा यमुनामुपतिष्ठते। उपश्लिष्यतीत्यर्थः। मित्रकरण अर्थ में—रथिकामुपतिष्ठते। मित्री करोति। पथि अर्थ में—अयं पन्थाः स्रुघ्नमुपतिष्ठते। प्राप्नोतीत्यर्थः। मन्त्रकरण से भिन्न अर्थ में आत्मने पद नहीं होता जैसे—भर्तारमुपतिष्ठति यौवनेन।

इस पर व्याख्याकर स्वमत प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि आचार्य पतञ्जलि मूल रूप से दो अर्थों मे ही उप पूर्वक स्था धातु से आत्मने पद मानते है जैसे 'उपाद्देवपूजासङ्गतिकरणयोरिति वक्तव्यम् अर्थात् उप पूर्वक देवपूजा एवं सङ्गतिकरण अर्थ में स्था धातु आत्मनेपद कहना चाहिए। अन्य जो दो अर्थ मित्र एव पथ अर्थ है वह आचार्य को अभीष्ट नहीं है। अर्थात् कुछ आचार्यो का मत है। तात्पर्य सर्व सम्मत पक्ष नहीं है।

अवाद् ग्रेः 1.3.50 इस सूत्र में अव पूर्वक गिर धातु से आत्मनेपद होता है। इस सूत्र में प्रयुक्त गृ धातु चार गणों में पठित है। जैसे गृ सेचने भ्वादि गरति, गृ विज्ञाने चुरादि गारयते, गृ निगरणे तुदादि गिरति गिलति, गृ शब्दे क्रयादि, गृणति। चार प्रकार की धातुओं में पाणिनि आचार्य का संकेत तुदादि के पक्ष में है तथा अव उपसर्ग का पूर्व में प्रयोग किया जाता है। परंतु कात्यायनाचार्य क्रयादि गण से

संबंधित गृधातु के निषेध के लिए वार्तिक पढ़ते हैं कि क्रयादिगणपठित गृधातु से आत्मनेपद नहीं होता है। उन्होंने लिखा प्रयोगाभावात्। तृतीय ऋषि महर्षि पतञ्जलि दोनों आचार्यो से हटकर पूर्वोक्त वार्तिक का लिखना व्यथ है अवाद् ग्रः ऐसा पाठ करते हैं। ऐसा पाठ करने पर अव पूर्वक ही गृ धातु से आत्मने पद होता है ऐसा करने पर क्रयादि से अवपूर्वक की स्थिति ही नहीं है क्योंकि प्रयोग ही नहीं प्राप्त होता।

प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु 1.3.64 (प्र उपाभ्याम् इति पञ्चमी, युजेः इति पञ्चमी, अयज्ञपात्रेषु इति सप्तमी)। अर्थः— प्र उप इति पूर्वात् युजेःअयज्ञपात्रप्रयोगविषयत् आत्मनेपदं भवति। यथा—प्रयुङ्क्ते। उपयुङ्क्ते। (स्वराद्यन्तोपसर्गादिति वाच्यम्) उद्युङ्क्ते। नियुङ्क्ते।

स्वराद्युपसृष्टादिति वक्तव्यम्। स्वरान्तोपसृष्टादिति वक्तव्यम्। इन दोनों वचनों के आधार पर जितने भी अजादि एवं अजन्त उपसर्ग हैं उन सभी के योग में युज धातु के पर आत्मनेपद का प्रयोग किया जाता है। अर्थात् सम्, निस्, निर्, दुस्, दुर् के योग में आत्मनेपद संज्ञक प्रत्यय का विधान नहीं होता। यह एक विस्तारवादी विचार है। जो कि आचार्य पाणिनि दो उपसर्ग विशिष्ट के साथ ही निर्दिष्ट किया था। अन्य वैयाकरणों द्वारा भी प्रमाणित किया गया है।

आचार्यपाणिनि स्वव्याकरणशास्त्र में पदसंज्ञा विधानार्थ सुप्तिङन्तं पदम्, न क्ये: 1.4.1.6, तथा स्वादिष्वसर्वनामस्थाने 1.4.17 इत्यादि लिखा। परन्तु आचार्य पतञ्जलि ने भुवद्धयो धारयद्वद्धयः पदसंज्ञा वक्तव्या। यहाँ पर तसौ मत्वर्थे से प्राप्त भसंज्ञा के द्वारा पदसंज्ञा का बाध प्राप्त हो रहा था। अतः पदसंज्ञा विधान के लिए वार्तिक का अवतरण किया। जिससे दा रूपो की सिद्धि होती है। यदि पद संज्ञा न होती तो वहाँ अनिष्टरूप होने लगता। अतः भाष्यकार ने यह वार्तिक लिखा।

'अकथितञ्च' 1.4.5.1 सूत्र संख्या में पाणिनि एवं कात्यायन ने केवल कर्मसंज्ञा के विषय में लिखा। परंतु आचार्य पतञ्जलि ने कल्मसंज्ञा का भी उपस्थापन किया। उस कल्म को परिभाषित ऐसा किया कि—

विपरीतं तु यत्कर्म तत्कल्म कवयो विदुः।
अपरिसमाप्तं कर्म कल्म इति।

यद्यपि इन दोनों परिभाषाओं में यह भी विचार करना आवश्यक है कि प्रथम किसका प्रयोग किया जाए तथा द्वितीय किसका प्रयोग किया जाए। तो स्पष्ट होता

है कि द्वितीय का प्रथम प्रयोग होना चाहिए, तथा द्वितीय का प्रथम प्रयोग होना चाहिए। क्योंकि वह साक्षात् कर्म से संबंधित है। वह चाहे जैसा कर्म हो। परंतु प्रसिद्धि विपरीत होने के कारण द्वितीय का प्रथम प्रयोग न होकर द्वितीय प्रयोग हो गया। इसका यह भी तात्पर्य होता है कि वैचारिक औदारीकरण भी किया गया है। आचार्य कात्यायन ने कर्म तथा कल्म को समानार्थक माना है। वे लिखते हैं कि कृधातु से गुण रपर होकर कर्म, तथा गुणलपर होकर कल्म बनता है। दोनों का कपिरकारादिगण में पाठ होने से सिद्धि माना है। किंतु अर्थ भेद नहीं माना है। महाभाष्यकार ने एक प्रश्न और भी चलाया कि अकथितं च से ही समस्त कर्मसंज्ञा हो जाएगी। जैसे—

एतेन कर्मसंज्ञा सर्वा सिद्धा भवत्यकथितेन।
तत्रेप्सितस्य किं स्यात् प्रयोजनं कर्मसंज्ञाया: ?
यत्तु कथितं पुरस्तादीप्सितयुक्तं च तस्य सिद्ध्यर्थम्।
ईप्सिततमेव तु यत्स्यात्तस्य भविष्यत्यकथितेन॥ महाभाष्यम्

तदर्थ कर्तुरीप्सिततमं कर्म सूत्रणि की क्या आवश्यकता है। इस प्रश्न का उत्तर दिया कि 'अथेह कथं भवितव्यम् ?' नेताऽश्वस्य स्रुघ्नमित्याहोस्विन्नेताऽश्वस्य स्रुघ्नस्येति ? उभयथा गोणिकापुत्रः। अर्थात् जिस गो इत्यादि कर्म के होने पर अन्य पय प्रभृति उत्पन्न होते है। तथा जहाँ धात्वर्थ के योग में षष्ठी होती है। वह कर्म कल्म कहलाता है। अर्थात् दुह् इत्यादि धातुओं का जो दोहन रूप अर्थ है उसका प्रयोजन जो दुग्ध इत्यादि उसके साथ जिस षष्ठी का संबंध होता है उन्हें ही पूर्वाचार्यो ने कल्म कहा है। जैसे गौर्दुह्यते पयः, पौरवस्य कंबलं याचते, में गो एवं पौरव को अकथिकं च से कर्म संज्ञा कहीं गई है। यहीं पूर्वाचार्यो का कल्म है।

अयस्मयादीनि छन्दसि (1.4.20)

सूत्र में अयस्मयादीनि शब्दरूपाणि छन्दसि विषये निपात्यन्ते। यथा अस्मयं वर्म, ससुष्टुभा स ऋक्वता गणेन। पदत्वात् कुत्वं भत्वाज्जश्त्वं न भवति। इस सूत्र में पाणिनि का मत है कि अयस्मयादि वैदिक शब्द भसंज्ञा के रूप में माना जाता है। किंतु वेद में लौकिकशब्द सिद्धि की भाति व्यवस्था नहीं है। अपितु अनियमितिता दृष्टिगत होती है। कुछ शब्द को पद संज्ञा विशिष्ट तथा कुछ शब्द भसंज्ञा मानकर कार्य किया जाता है। महाभाष्य में लिखा है कि—'उभयसंज्ञान्यपि वक्तव्यम्' अर्थात् दोनों संज्ञाओं का अभिधान करना चाहिए। वैदिक शब्द ऋक्वता में प्रथम

पद संज्ञा होकर च् को क् हो जाता है, तथा भसंज्ञा के कारण क् को ग् नहीं होता।

पञ्चमी भयेन (2.1.37)

पञ्चम्यन्तं सुबन्तं भयवाचिका सुबन्तेन सह समस्यतात् स च तत्पुरुषसमासो भवति। यथा चोराद् भयम् चोरभयम्। भयभीतभीतिभीभिरिति वाच्यम्। वृकेभ्यो भीतः वृकभीतः, वृकभीतिः। वृकभीः। महर्षि पाणिनि केवल एक शब्द का सन्निवेश करते हैं परंतु पतञ्जलि आचार्य भयभीतभीतिभी इत्यादि शब्दों के साथ जुगुप्सा का भी निवेश करते हैं। भयनिर्गतजुगुप्सुभिरिति वक्त व्यम् ऐसा कहा। उदाहरण जैसे अधर्मजुगुप्सुः।

कुगतिप्रादयः (2.2.18)

कुगति प्रादयः समर्थेन शब्दान्तरेण सह नित्यं समस्यन्ते। तत्पुरुषश्च समासो भवति। यथा कुत्सितः पुरुषः कुपुरुषः। उररीकृतम्। दुष्पुरुषः। सुपुरुषः। अतिपुरुषः। इस सूत्र में आचार्य कात्यायन ने अनेक वार्तिकों का निवेश किया, जैसे—'प्रादयः क्त ार्थे' प्रादि के साथ क्त ान्तार्थ के साथ प्रादियों का समास होता है। जैसे—प्रगतः आचार्यः प्राचार्यः।

दुर्निन्दायाम्–दुष्कुलम्। दुर्गदः।
आङीषदर्थे आकडारः–आपिङ्गलः।
कुः पापार्थे–कुब्राह्मणः। कुवृषलः।
प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया–प्राचार्यः।
अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया–अतिखट्वः। अतिमालः।
अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे तृतीयया–अवकोकिलः।
पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या–पर्यध्ययनः।
निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या–निष्कौशाम्बिः।

साथ में ही महर्षि पतञ्जलि ने तीन वार्तिको का परिस्थित्यनुयायी और भी निवेश किया। जैसे अव्ययं प्रवृद्धादिभिः। अव्ययों का प्रवृद्धादि के साथ समास होता है। जैसे पुनर्गवः। पुनः सुखम्।

द्वितीय इवेन विभक्तयलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च। इवेन सह समासो विभक्तयलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च ववतव्यम्। वाससीइव। कन्ये इव।

उदात्तवता गतिमता च तिङा उदात्तवता तिङा गतिमता च अव्ययं समस्यत इति वक्तव्यम्। अनुव्यचलत्। अनुप्राविशत्। अनुव्याकरोति। यत्परियन्ति । साथ-साथ आचार्य ने सौनागों की सूची को भी सूचित किया। सौनागैर्विस्तरतरकेण पठितम्। उपरोक्त पतञ्जलि के तीन नूतन वार्तिको का निवेश एक घटना है तथा प्राचीन आचार्यों के उच्चारों का सुरक्षा करना था।

वाष्पोष्पभ्यामुद्वमने (3.1.16)

उद्वमनेऽर्थे आभ्यां कर्मभ्यां क्यङ् भवति। यथा वाष्पमुद्वमति। उष्मायते। फेनाच्चेति वक्तव्यम् फेनायते। उद्वमन अर्थ में वाष्प एवं उष्म शब्द से क्यङ् प्रत्यय होता है। परंतु पतञ्जलि आचार्य एक फेनायते शब्द की सिद्धि हेतु भी क्यङ् का विधान करते हैं। यह वर्धितरूप है।

शब्दवैरकलहाऽभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे (3.1.17)

एभ्यः कर्मभ्यः करोत्यर्थे क्यङ् भवति। यथा शब्दं करोति इति शब्दायते। वैरायते। कलहायते। अभ्रायते। कण्वायते। मेघायते। पक्षे तत्करोतीति णिजपीष्यत इति न्यासः। शब्दयति। (सुदिनदुर्दिननीहारेभ्यश्च) यथा सुदिनायते दुर्दिनायते। नीहारायते। सामान्यतया सूत्रार्थ होता है शब्द, वैर, कलह, अभ्र, कण्व और मेघ शब्द से करण अर्थ में क्यङ् प्रत्यय होता है। इस अर्थ में महर्षि पतञ्जलि ने यह वार्तिक लिखा—अटाट्टाशीकाकोटापोटासोटाप्रुष्टाप्लुष्टाग्रहणम्। अटा अटायते। अट्टा-अट्टायते। शीका-शीकायते। कोटा-कोटायते। पोटा-पोटायते। सोटा-सोटायते। प्रुष्टा-प्रुष्टायते। प्लुष्टा-प्लुष्टायते। व्याख्याकारों का वक्तव्य यह है कि ये ध्वनियाँ पाणिनि कात्यायन के बाद आई परंतु यह उचित नहीं है। क्योंकि अन्य साहित्यिक ग्रंथों काव्यादिओं में भी उनका प्रयोग पाया जाता है। तदर्थ महर्षि पतञ्जलि जी ने उसका विस्तार किया।

धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ् (3.1.22)

एकाचो हलादेर्धातोः वर्तमानात् क्रियासमभिहारे यङ् स्यात्। यथा पुनः पुनः पठति पापठ्यते। भृशं ज्वलति जाज्वल्यते। (सूचिसूत्रिमूत्र्यय्यमर्त्यशूर्णोतिभ्यो यङ् वाच्यः) आद्यास्त्रयश्चक्षुरादावदन्ताः। यथा सोसूच्यते। सोसूत्र्यते। मोमूत्र्यते। अटाट्यते। अरार्यते। अशाश्यते। प्रोर्णोनूयते।

सूत्रार्थ-क्रिया के समभिहार (बार-बार या लगातार) में वर्तमान हलादि

एकाच् धातु से यङ् प्रत्यय होता है। इस सूत्र का विषय बहुत ही रोचक तथा विचारणीय है। समभिहार शब्द का क्या तात्पर्य है तो सम् अभि पूर्वक हृ धातु से घञ् प्रत्यय होकर सिद्ध होता है। व्युत्पत्ति इस प्रकार है समभिहरणं समाहारः। उदाहरण दिया जैसे पुष्प का समभिहार। माला का समभिहार। फलाभिहार। परंतु उपरोक्त उदाहरण से प्रकृत का सूत्र समानता नहीं रखता क्योंकि क्रिया तो एक ही है, सामान्य है। यद्यपि अवयव क्रियाएँ तो बहुत है जैसे अधिश्रयण, उदकसेचन, तण्डुलवपन एधोपकर्षण इत्यादि। इसमें कोई पूरा-पूरा करता है। कोई अंश मात्र को करता है। इन दोनों के मध्य जो संपूर्णतया करता है वहीं कहा जाता है पापच्यते, अथवा पुनः पुनर्वा पचति पापच्यते। पाणिनि आचार्य का भाषा विषयक चिंतन एक प्रत्यय व्यञ्जन के साथ प्रारंभ था। वार्तिककार ने ऊर्णोतेश्चोपसंख्यानम् लिखकर ऊर्णु तक बढ़ाया। तथा पतञ्जलि ने सूचिमूत्रिमूत्र्यटयर्त्यशूर्णोतिग्रहणं यङ्विधावनेकाज हलाद्यर्थम्। इसका क्या प्रयोजन था तो उत्तर दिया यङ् विधान प्रसङ्ग में अनेकाच् से भी यङ् हो जाए। सोसूच्यते। सोसूत्र्यते। मोमूत्र्यते। अटाट्यते। अरार्यते। उशाश्यते। प्रोर्णोनूयेत इत्यादि।

कर्मणि द्वितीया (2.3.2)

अनुक्ते कर्मणि द्वितीया स्यात्। यथा पाठं पठन्ति। कटं करोति। ग्रामं गच्छति। इस सामान्य अर्थ तथा उदाहरण के पश्चात् आचार्य पतञ्जलि ने लिखा 'द्वितीया विधानेऽभितः परितः समयानिकषाऽध्यधिग्योगेषूपसंख्यानम्।' यहाँ पर यदि द्वितीया का विधान न किया जाता तो सामीप्यादि संबंध सामान्य में षष्ठी हो जाती। अतः षष्ठी बाधनार्थ वार्तिकादि की परिकल्पना है। अर्थात् पतञ्जलि नियंत्रित करते हैं।

साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः (2.3.43)

आभ्यां योगे सप्तमी स्याद् अर्चायां न तु प्रतेः प्रयोगे। मातरि साधुर्निपुणो वा। अर्थ- अर्चा गम्यमान हो तो प्रति भिन्न साधु और निपुण शब्द के योग में सप्तमी विभक्ति होती है। आचार्य पतञ्जलि ने (अप्रत्यादिभिरिति वाच्यम्) मातरं प्रति परि अनु वा। अर्थात् प्रत्यादि समस्त के योग मे सप्तमी नहीं होती अपितु द्वितीया होती है।

अपथं नपुंसकम् (2.4.30)

अपथशब्दस्य नपुंसकलिङ्गे प्रयोगो भवति। अर्थात् अपथ शब्द नपुंसकलिङ्ग में प्रयोग

किया जाता है। अपथानि गहते मूढः। न पन्थाः इति अपन्थाः। न पथिन् सु। ऋक्पूरबन्धूपथामानक्षे 5.4.74, सूत्र से समासान्त अ प्रत्यय तथा टि भाग अर्थान् इन् भाग का लोप हो जाता है। पुनः वर्ण सम्मेलन होकर अपथः बनता है। यह सूत्र 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः(2.4.29)' इस सूत्र का अपवाद है, इसलिए तत्पुरुषसमास में ही नपुंसकलिङ्ग होगा अन्य में नहीं। परंतु कात्यायन काल में द्विगुसमास में कुछ शब्दों के साथ लिङ्ग की वैकल्पिक व्यवस्था दी गई थी, जैसे 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियाम्' पञ्चपूली, पञ्चानां पूलानां समाहारः। दशपूली दशानां पूलानां समाहारः दशपूली। दूसरा वार्तिक दिया। 'वाऽऽबन्तः' आबन्त भी स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से भाषित होता है। पञ्चखट्वी, पञ्चखट्वम्। दशखट्वी, दशखट्वम्। परंतु महर्षि पतञ्जलि ने कात्यायन निर्दिष्ट प्रयोगों एवं वार्तिकों को और भी बढ़ाया।

'अनो न लोपश्च' अर्थ–द्विगु समास में अनन्तप्रातिपदिक विकल्प से स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होता है। तथा अन् के नकार का नित्य ही लोप कहना चाहिए। उदाहरण जैसे पञ्चतक्षम्, पञ्चतक्षी। दशतक्षम्, दशतक्षी। 'पत्रादिभ्यश्च प्रतिषेधो वक्तव्यः' पत्रादिगण पठित शब्दों को द्विगु में जो अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियाम् कहा था उसका प्रतिषेध कहना चाहिए। जैसे पञ्चपात्रम्। द्विपात्रम्।

यङोऽचि च 2.4.74। अचि परे यङो बहुलं लुग् भवति। यथा लोलुवः पोपुवः। अच् परे हो तो यङ् का लुक् होता है, बहुलप्रकार से। यङोऽचि च सूत्र में पठित अच् प्रत्यय का बोधक है, प्रत्याहार का नहीं। यदि प्रत्याहार अभिमत होता तो अण् यह कहते क्योंकि अण् से अतिरिक्त अच् यङन्त से परे नहीं मिलता है। यहाँ अच् प्रत्यय 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' (3.1.134) सूत्र विहित अच् प्रत्यय लेना चाहिए। उदाहरण में लोलुवः पोपुलः दिया। पुनः पुनः लुनाति इति लोलुवः। पुनः पुनः पुनाति इति पोपुवः। लोलुवः रूप की सिद्धि लूञ् छेदने धातु से धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ् सूत्र से यङ् प्रत्यय, 'सन्यङोः' सूत्र से द्वित्व, गुणो यङ् लुकोः से गुण होकर लो लू य इसके बाद 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' सूत्र से अच् प्रत्यय होकर लो लू य अ यङोऽचि सूत्र से यङ् लुक् होकर द्वितीय उकार के गुण का 'न धातुलोपार्धधातुके' सूत्र से निषेध करके 'अचिश्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' सूत्र से उवङ् करके विभक्तिकार्यादि का संपादन को साधते है। परंतु सनीस्रंसः दनीध्वंशः प्रयोग की सिद्धि कैसे होगी। पुनः पुनः अतिशयेन वा स्रन्सति। पुनः पुनः अतिशये वा ध्वंसति वा स्रन्स स्रन्स य, ध्वंस ध्वंस य, अभ्यासादि संबंधी कार्य के पश्चात् सस्रन्स य, दध्वंस य, यहाँ पर यङ्

का लोप हो जाने पर ङित् प्रत्यय परे न होने के कारण 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' (पा.सू.6.4.24) से अनुनासिक का लोप प्राप्त था परंतु लुक् होने के कारण प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् सूत्र प्रवृत्त नहीं होगा क्योंकि 'न लुमताङ्गस्य' सूत्र निषेध कर देता है। भाष्यकार ने भी सनीस्रन्सः, दनीध्वंसः दोनों रूप में ही अभीष्टता जताया है। इष्टमेवैतत् संगृहीतम्–सनीस्रंसो दनीध्वंस इत्येव भवितव्यम्।

कण्वादिभ्यो यक् (3.1.27)

एभ्यो धातुभ्यो यक् भवति। कण्डूयति, कण्डूयते। कण्डवादिगण पठित धातुओं से आचार्य पाणिनि यक् प्रत्यय का विधान करते हैं। संज्ञाओं के रूप में भी कण्डू का प्रयोग किया जाता है। यद्यपि कण्डू की मूल प्रकृति क्या है यह कह पाना मुश्किल का काम है। उपरोक्त समस्या से यह स्पष्ट होता है कि वैयाकरणों ने अपने कार्यों में इसका खीच तान कर व्यवस्था किया है। सर्व प्राचीन वेद ऋग्वेदादि में भी इस शब्द का कोई आधार नहीं मिलता है। अपितु तैत्तिरीयसंहिता (6.1.3.8.7.1.1.9.3) एवं शतपथब्राह्मण में (3.2.1.31) में देखा जाता है। इरज्यति। य एकश्चर्षणीनां वसूनामिरज्यति। इन्द्रः पञ्च क्षितीनाम्। (ऋग्वेदः 1.7.9) भुरण्यति। द्वे इदस्य क्रमणे स्वर्दृशोऽभिख्यायमर्त्योभुरण्यति। ऋग्वेदः 1.155.5 समूह में इसका पाठ माना जाता है। इसका प्रयोग इरज्यवः (ऋग्वेदः 10.93.3), भुरण्युः, (श्रीणन्नुप स्थाद्दिवं भुरण्युः...) ऋग्वेदः (1.68.1)। पाणिनि जी ने अपना विचार स्पष्ट रूप से इस विषय में नहीं लिखा। किंतु तथ्य यह है कि अनुबंध 'क्' गुणविधि को रोकता है। यहाँ पर 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (7.3.84) सूत्र से आर्धधातुक प्रत्यय निमित्तक गुण प्राप्त था। जिसका कित्वात् निषेध किया गया। इस विषय पर वार्तिक के माध्यम से कात्यायन ने भी अपना विचार प्रस्तुत किया है तथा आगे बढ़ाने का भी प्रयास किया है। कण्डूयति धातु है तथा कण्डू संज्ञा है। कण्डू कृदन्त क्विप् प्रत्ययान्त माना जाता है। इस चिंतन से यह सिद्ध होता है कि पाणिनि कात्यायन से भी पूर्व इस पर विचार किया गया है। कात्यायन पतञ्जलि का विचार भी दृष्टिगत होता है। कात्यायन–कण्ड्वादिभ्यो वावचनम्। पतञ्जलि–कण्ड्वादिभ्यो वेति वचनम्। कात्यायन–अवचने हि नित्यप्रत्ययवचनम्। पतञ्जलि–अक्रियमाणे हि वावचने नित्यः प्रत्ययविधिः प्रसज्येत। तत्र को दोषः। कात्यायन–तत्र धातुविधितुक्प्रतिषेधः। पतञ्जलि–तत्र धातुविधेस्तुकश्च प्रतिषेधो वक्तव्यः स्यात्। कण्ड्वौ कण्डवः। (6.4.72) ''अचिश्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ इत्युवङादेशः प्रसज्येत। तुक्च प्रतिषेद्धव्यः। वल्गूः।

मन्तुरिति। ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् (6.1.71)। प्राप्नोति। कात्यायन–ह्रस्वलोपौ च। पतञ्जलिः–ह्रस्वयलोपौ च वक्तव्यौ स्याताम्। वल्गुः। मन्तुरिति। किमर्थमिदं न ह्रस्व एवायमन्तरङ्गत्वात्। अकृद्यकार इति दीर्घत्वं प्राप्नोति। उपरोक्त व्याख्यान से स्पष्ट है कि कात्यायन इसे व्युत्पन्न प्रातिपदिक मानते है, अव्युत्पन्न नहीं मानते। आचार्य पाणिनि कहते हैं कि यदि कण्डवादि गण माना जाए तथा उसमें इस शब्द को रखा जाए तो यह शब्द केवल अव्युत्पन्न संज्ञा माना जाएगा। पाणिनि आचार्य ने उसस्यति। तिरस्यति। सम्भूयस्यति। मगध्यति आदि प्रयोगों में स्वार्थ में प्रत्यय का निर्देश मानते हैं। परवर्ती दुर्गादि आचार्यो ने अर्थ पूर्ण निर्देश भी माना है। आचार्य वर्धमान कहते हैं कि—पाणिनिशकटाङ्गजदिग्वस्त्रवामनमतेन स्वार्थे कण्वादिभ्यः प्रत्ययःचन्द्रादीनां मते करोत्यर्थे। परंतु आचार्य पतञ्जलि ने उपरोक्त वार्तिक का खण्डन किया। तत्तर्हि वावचनं कर्तव्यम्। न कर्तव्यम्। उभयं कण्वावदीनि धातवश्चते। प्रातिपदिकानि च। आतश्चैपभयम् कण्डूयतीति क्रियां कुर्वाणे प्रयुज्येते। अस्ति मे कण्डूरिति वेदनामात्रस्य सानिध्ये। अपरोऽपि आह—

धातुप्रकरणाद्धातुः कस्य चासञ्जनादपि।
आह चायमिमं दीर्घमन्ये धातुर्विभाषितः॥

कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि (3.1.35)।

अर्थः—कास्धातोः प्रत्ययान्तेभ्यश्च आम् भवति अमन्त्रे लिटि।

हिंदी अर्थ—मन्त्र विषय को छोड़कर लिट् लकार परे हो तो कास् धातु से तथा प्रत्ययान्त धातु से आम् प्रत्यय होता है।

इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः (3.1.36)।

इजादिर्यो धातुर्गुरुमान् ऋच्छति विवर्जितः तस्माच्च लिटि परत आम् प्रत्ययो भवति। यथा ईहाञ्चक्रे। ऊहाञ्चक्रे। आमो मकारस्य नेत्वम्। आस्कासोराम् विधानात् ज्ञापकात्। यथा ईहाञ्चक्रे। ऊहाञ्चक्रे। हिंदी अर्थ—ऋच्छ धातु से भिन्न जो धातु इजादि तथा गुरुवर्ण से युक्त हो, उससे परे आम् प्रत्यय होता है। लिट् के परे होने पर। यहाँ पर सूत्रोक्त निमित्तो के अतिरिक्त वार्तिककार ने ऊर्णु धातु से आम् प्रत्यय के विधान की बात कहीं है, और कहकर भाष्यकार ने कहा ऊर्णुधातु से आम् का विधान नहीं करना चाहिए। पुनः भाष्यकार ने कहा उसके लिए वार्तिक बनाने की जरूरत नहीं है। क्योंकि अन्य उपायों से उसका निषेध किया जा सकता है। जैसे ऊर्णुञ् धातु

को नुवद् अतिदेश करना चाहिए। इससे अगुरुमान् होने से आम् की प्राप्ति नहीं होगी। एवं एकाच्क हलादि होने से धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ् (3.1.22) से होने वाला यङ् भी सिद्ध हो जाएगा। ऊर्णुञ् से आम् प्रतिषेध करने का अन्य प्रकार भी आचार्य पतञ्जलि बताते हैं। अनृच्छो दयायासश्च ऐसा संहितापाठ है। अनृच्छो यहाँ अनृच्छ उ ऐसा पदच्छेद है। अनृच्छ यह अविभक्तिक निर्देश है। इससे ऋच्छ धातु को आम् का निषेध होगा तथा उवर्णान्त धातु ऊर्णुञ् को भी आम् का प्रतिषेध होगा। इस प्रकार पतञ्जलि आचार्य ने समाधान दिया।

न दुहस्नुनमां यक्चिणौ (3.1.89)।

एषां कर्मकर्त्तरि यक्चिणौ न भवतः। यथा दुग्धे धेनूः स्वयमेव। अदुग्ध धेनुः स्वयमेव। प्रस्नुते धेनुः स्वयमेव। प्राश्नोष्ट धेनुःस्वयमेव। नमते दण्डःस्वयमेव। अनंस्त दण्डः स्वयमेव।

हिंदी अर्थ–कर्म कर्ता में दुह् स्नु (ष्णुह्) तथा नम (णम्) धातु से यक् तथा चिण् प्रत्यय नहीं होता।

आचार्य कात्यायन ने उपरोक्त सूत्र पर और भी कुछ विस्तार किया। जैसे—यक् चिणोः प्रतिषेधे हेतुमणिश्रिब्रूञामुपसंख्यानम् अर्थात् यक् और चिण् के प्रतिरोध में हेतुमण्णिच्, श्रिञ् सेवायाम् (897), ब्रूञ् व्यक्तयां वाचि (1044), धातु से यक् या चिण् का प्रतिरोध कहना चाहिए। जैसे—हेतुमण्णिजन्म–कारयते कटः स्वयमेव। यहाँ यक्प्रतिषेध होने से शप्, गुण अयादेश है। अचीकरत कटः स्वयमेव। यहाँ चिण् प्रतिरोध होने से चिण् से पर में च्लि को णिश्रिदुश्रुभ्यः कर्तरि चङ् (1.6.48) से चङ् आदेश होता है। इसी तरह उच्छ्रयते दंडः स्वयमेव इत्यादि से भी समझना चाहिए। यहाँ पर भारद्वीजाय वैयाकरण भी कुछ धातुओं से यक् और चिण् का पढ़ते हैं। जैसे—यक्चिणोः प्रतिषेधे हेतुमण्णिश्रिब्रूआत्मनेपदाऽकर्मकाणामुप संख्यानम्।

अचो यत् (3.1.97)

अजन्ताद् धातोः यत् भवति। यथा चेयम्। जेयम्। पेयम्। गेयम्। देयम्।

हिंदी अर्थ—अजन्त धातुओं से भाव या कर्म अर्थ गम्यमान होने पर यत् प्रत्यय होता है। परंतु कात्यायन ने आगे एक वार्तिक लिखा, यति जनेरुपसंख्यानम्। जनी प्रादुर्भावे धातु से भी यत् प्रत्यय कहना चाहिए। जन्यं वत्सेन। अत्यल्पमिदमुच्यते, यह कह कर भाष्यकार ने और कुछ धातुओं के लिए वार्तिकों का पाठ किया।

तक्,शस्,चत्, यत्, जन् धातुओं से भी यत् प्रत्यय होता है। जैसे—'तकिशसिचतियतिजनिभ्यो यद्वाच्य:' यथा तक्यम्। शस्यम्। चत्यम्। यत्यम्। जन्यम्। 'हनो वा यद् वधश्च वक्तव्य:' वध्य:, पक्षे वक्ष्यमाणो ण्यत् घात्य:। उपरोक्त प्रत्ययान्तो का प्रयोगदर्शन तथा अन्य प्रदर्शन निम्न सूत्रों में किया जा सकता है। उदाहरणों का प्रायोगिक प्रदेश—लुपसदचरजपजभदहदशगृहभ्यो भावगर्हायाम् (3.1.24)। एभ्यो धात्वर्थगर्हायामेव यङ् स्यात्। गर्हितं लुम्पति इति लोलुप्यते। सासद्यते। चञ्चूर्यते। जञ्जप्यते। जञ्जभ्यते। दन्दह्यते। दन्दश्यते। निजेगिल्यते। यतोऽनाव: (6.1.2.13)। यत् प्रत्यायन्तरस्य द्वयच आदिरूदात्तो भवति। न चेन्नौशब्दात् परो भवति। अचो यत्, चेयम्, जेयम्। शरीरावयवाद्यत् कण्ठ्यम्, ओष्ठ्यम्।

स्तम्बशकृतोरिन् (3.2.24)।

कृञो हेतु ताच्छील्यानुलोम्येषु सूत्र से कृञ् की अनुवृत्ति आती है। तत् पश्चात् ऐसा अर्थ करते हैं, स्तम्बशकृतकर्मणो: उपपदयो: करोते: इन् प्रत्ययो भवति। यथा स्तम्बकरि: ब्रीहि:। शकृत्करि: वत्स:।

हिंदी अर्थ—स्तम्ब तथा शकृत् शब्द से कर्म उपपद होने से डुकृञ् धातु से इन् प्रत्यय होता है। कात्यायन ने 'ब्रीहिवत्सयोरिति वक्तव्यम्' लिखा भाष्यकार ने लिखा उसे और विस्तार से स्पष्ट रूप में लिखा—स्तम्बशकृतोब्रीहिवत्सयोरिति वक्त व्यम्। अर्थात् ब्रीहि तथा वत्स अर्थ में इन् प्रत्यय होता है। भाष्यकार जब भी वार्तिककार के वार्तिक पर विचार करते हैं तो वे पहले उस वार्तिक का उच्चारण करते हैं उसके बाद उसके व्याख्यान के विषय में सोचते हैं। जैसे—

कात्यायन:—किंयत्तद् बहुव्रीहिषु कृञोऽज्विधानम्।
पतञ्जलि:—किंयत्तद् बहुषु कृञोऽज्विधानं कर्त्तव्यम्। 3.2.21
कात्यायन:—भृञ: कुक्ष्यात्मनोर्मम्च।
पतञ्जलि:—भृञ: कुक्ष्यात्मनोर्मुम्चेति वक्त व्यम्। 3.2.26

नासिकास्तनयोर्ध्माधेटो:(3.2.29)।

नासिकास्तनयो: कर्मणोरूपपदे सति ध्मा तथा धेट् धातो: खश्प्रत्यय: स्यात्। (स्तने धेटो नासिकायां ध्मश्चेति वाच्यम्) स्तनं धयति इति स्तनन्धय:। धेटस्टित्वात् स्तानन्धायी। नासिकान्धम:। नासिकान्धय:।

हिंदी अर्थ—नासिका तथा स्तन कर्म उपपद होने पर ध्मा तथा धेट् धातु से

खश् प्रत्यय होता है। वार्तिकार्थः—स्तन उपपद रहते धेट् धातु से तथा नासिका उपपद रहते ध्मा तथा धेट् धातुसे खश् प्रत्यय कहना चाहिए। आचार्य पतञ्जलि ने लिखा मुष्टौ ध्मश्च। मुष्टि उपपद रहते ध्म तथा धेट् से भी खश् कहना चाहिए। अन्य आचार्य उपरोक्त भाष्य वचन को भी अल्प कहा है, एवं औरों को भी जोड़ा गया है जैसे—नासिकानाडीमुष्टिघटीखारीष्विति वक्तव्यम्। अर्थात् नासिका नाडी मुष्टि मुष्टि घटी खारी इत्यादि पूर्वक ध्मा तथा धेट् धातु से खश् प्रत्यय कहना चाहिए।

अन्ताऽत्यन्ताध्वदूरपारसर्वाऽनन्तेषु डः (3.2.48)

एषु पूर्वेषु कर्मसु उपपदेषु गमेः ड प्रत्ययो भवति। डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः। अन्तं गच्छतीति अन्तगः। अध्वगः। दूरगः। पारगः। सर्वगः। अनन्तमः। हिंदी अर्थ—अन्तादि कर्म उपपद रहते गम् धातु से डप्रत्यय होता है। (सर्वत्र पन्नयोरूपसंख्यानम्) यथा सर्वत्र गच्छतीति सर्वत्रगः। पन्नं गच्छतीति पन्नगः। पन्नमिति पद्यते- क्तान्तं क्रियाविशेषणम्। (उरसो लोपश्च)। उरसा गच्छतीति उरगः। (सुदुरोऽधिकरणे) सुखेन गच्छतीति सुखगः। दुःखेन गच्छत्यस्मिन् इति दुर्गः। सूत्रकार तथा वार्तिककार के अलावा आचार्य पतञ्जलि ने अन्यों का भी सन्निवेश किया। डप्रकरणे अन्येष्वपि दृश्यते इति वाच्यम्। स्त्रियाः आगारं स्त्रियागरम्। स्त्रियागारं गच्छतीति स्त्रियोगरगः। ग्रामं गच्छतीति ग्रामगः। गुरुतल्पं गच्छतीति गुरुतल्पगः।

महर्षि पतञ्जलि एकार्थीभावसामर्थ्य विचार

एकार्थीभाव को परिभाषित करते हुए लिखा गया कि ''पृथक्-पृथक् अर्थोपस्थापकानां पदानां विशिष्टशक्त्या एकार्थ प्रतिपादकत्वमेकार्थीभावत्वम्।'' अर्थात् पृथक् रूप से उपस्थित दो पद जहाँ पर मिलकर किसी विशिष्टार्थ की प्रतीति कराते हैं उसे एकार्थीभाव नाम से जाना जाता है। यद्यपि ऐसे लौकिक स्तर पर विचार किया जाए तो एकार्थी भाव का तात्पर्य भावनाओं का एकीकरण। जब यौगिक स्थिति के दो भाग या घटक अर्थाभिव्यक्ति के लिए एकजुट हो जाते हैं अथवा जब उनके अर्थ एक दूसरे के साथ एक होने की स्थिति में नहीं रहते, सीधे उनके साथ मिश्रित नहीं हो सकते प्रत्येक पद यौगिक अर्थ के उपस्थापन के लिए खड़ा दिखाई देता है। उसी को एक साथ अभिव्यक्ति करने कि परिकल्पना को एकार्थीभाव नाम से जाना जाता है।

द्वन्द्वसमास प्रक्रिया में आचार्य कात्यायन द्वारा प्रतिपादित युगपदधिकरणता का सिद्धांत एकार्थीभाव का ही तार्किक परिणाम है। जैसे एक साथ 'प्लक्षन्यग्रोधौ' इस शब्द में दोनों पदो का एक ही अर्थ है। अर्थात् प्लक्ष तथा न्यग्रोध का एक ही प्रतिपाद्य है। दोनों आचार्य अर्थात् कात्यायन तथा पतञ्जलि दोनों ही समान मत रखते हैं। समर्थः पदविधिः (2.1.1)। पदसंबंधी यो विधिः स समर्थाश्रितो बोध्यः। पाणिनि तथा कात्यायन दोनों आचार्य एकार्थीभाव यौगिकशब्द विषयक धारणा में स्वीकार करते हैं। अर्थात् पूर्ण शब्दों से संबंधित नियम। केवल समर्थशब्दों के विषय का नियम। परंतु आचार्य पतञ्जलि ने असमर्थ अवस्था में भी एकार्थीभाव की परिकल्पना की। व्रते (3.2.80) सूत्र में आचार्य ने एक उदाहरण दिया—अश्राद्धभोजी। ऐसा कहकर, एवं तर्हि नञ एवाऽयं भुजिप्रतिषेधवाचिनः श्राद्धशब्देनाऽसमर्थसमासो, न भोजी श्राद्धस्येति। स तर्हि असमर्थसमासो वक्तव्यः। अथ वै तर्हि बहूनि प्रयोजनानि। कानि? प्रयोजनानि असूर्यम्पश्यानि मुखान्यपुनर्गेयाः श्लोकाःअश्राद्धभोजी ब्राह्मणः सुडनपुंसकस्येति। अर्थात् उपरोक्त उदाहरणों में सामर्थ्य का अभाव है अतः फिर भी एकार्थीभाव मान कर समास माना जाता है। इस प्रकार एकार्थीभाव मानकर युगपदवचनाधिकरणता का आचार्य ने खंडन किया। इयं युगपदधिकरणवचनता नाम दुःखा च दुरूपपादा। चार्थे द्वन्द्वः (2.2.29)।

भियः क्रुक्लुकनौ 3.2.174।

तच्छीलादिषु कर्त्तृषु ञिभी भये अस्मात् क्रुक्-लुकनौ प्रत्ययौ भवतःयथा भीरूः, भीलुकः। (भियःक्रुकुन्नपि वाच्यः) भीरूकः। हिंदी अर्थ—तच्छीलादि कर्ता होने पर ञिभी धातु से क्रुक्-लुकन् प्रत्यय होता है। आचार्य पतञ्जलि ने क्रुकन् प्रत्यय भी कहना चाहिए। इसका निवेश किया।

सृस्थिरे (पा.सू.3.3.17)

स्थिरे कर्त्तरि सर्त्ते (सृ-तेः) धातोःघञ् प्रत्ययो भवति। यथा सरति कालान्तरमिति सारः। हिंदी अर्थ—सृधातु से स्थिर अर्थ में कर्त्तृवाच्य में घञ् प्रत्यय होता है। आचार्य पतञ्जलि ने (व्याधिमत्स्यबलेषु चेति वाच्यम्) व्याधि, मत्स्य, बल का और भी निवेश किया। यथा अतिसारो-व्याधिः। अन्तर्भावित ण्यर्थोऽत्र सरतिः। रूधिरादिकम् अतिशयेन सरतीत्यर्थः। विसारो मत्स्य। सारो बलम्। सारे बले स्थिरांशे च।

एरच् (3.3.56)।

इवर्णान्तात् धातोः भावे कर्त्तरि च कारके संज्ञायाम् अच् प्रत्ययो भवति। यथा— जयः, चयः, क्षयः, अयः। हिंदी अर्थ—इवर्णान्त धातु से भाव एवं कर्ता अर्थ में अच् प्रत्यय कहना चाहिए। इसके पश्चात् आचार्य पतञ्जलि ने वेदादि घटित प्रयोगो को ध्यान में रखकर इसका विस्तार किया। भयादीनामुपसंख्यानम्। नपुंसके क्त ादिनिवृत्यर्थम्। भयम्, वर्षम्। साथ-साथ ही कुछ केवल वैदिक शब्दों का भी कथन किया है जैसे—(जवसवौ च्छन्दसि) वेद में जु सौत्रधातु एवं षु धातु से भाव अर्थ में अच् प्रत्यय कहना चाहिए। तथा नपुंसक का प्रतिषेध कहना चाहिए। वैदिक प्रयोग-ऊर्वारस्तु में जव इत्यादि।

इच्छा (3.3.101)।

इषेः स्त्रियां शे यग्विकरणाभावश्च। (यक् अभावः च) निपात्यते। इष धातु से शप्रत्यय परे रहते और यक् विकरणप्रत्ययो का अभाव निपातन किया जाता है। इच्छा मदीया गमनाय वर्तते। भाष्यकार ने इस सूत्र में कुछ औरों का भी निवेश किया जैसे (परिचर्यापरिसर्यामृगयाटाट्यानामुपसंख्यानम्) शो यक् च निपात्यये। हिंदी अर्थ—इच्छा, परिचर्या, परिसर्या, मृगया, अटाट्या, यहाँ भी निपातन करना चाहिए। परिचर्या में शप्रत्यय तथा यक् का निपातन भाव अर्थ में है। यथा परिचर्या=पूजा। परिसर्या में गुण का भी निपातन है। परिसर्या=परिसरणम्। अत्र गुणोऽपि। मृग अन्वेषणे। चुरादौ अदन्तः। अतो लोपाभावेऽपि शे यकि णिलोपः मृगया आखेटः। मृग् अन्वेषणे चुरादि धातु से अदन्त से अत् का लोपाभाव था, यक्, णिलोप, होकर मृगया शब्द की सिद्धि होती है। अटतेः शे यकि ट्यशब्दस्य द्वित्वम्। पूर्वभागे यकारनिवृत्तिः दीर्घश्च। अटाट्या=वृथामनम्। अट् गतौ धातु से शप्रत्यय यक् ट्य शब्द द्वित्व निपातन होता है। (जागर्तेरकारो वा) जागृ निद्राक्षये धातु से पक्ष में अकार प्रत्यय कहना चाहिए। पक्षे शः—जागरा। गुणनिपातन कहना चाहिए। जागर्या, निद्राभावः। भाष्योक्ति इस प्रकार से है। अत्यल्पमिदमुच्यते इच्छेति। इच्छापरिचर्यापरिसर्यामृगयाटाट्यानां निपातनं कर्त्तव्यम्। जागरितेराकारो वा जागर्या जागरा।

कृत्यल्युटो बहुलम् (3.3.113)।

भावे कर्त्तरि च कारके संज्ञायामिति च सर्वं निवृत्तम्। कृत्यसंज्ञका ल्युट् च बहुलम् अर्थेषु भवन्ति। यथा दानीयो विप्रः। राज्ञा भुज्यन्ते। राजभोजनाः शालयः। प्रस्कन्दनम्। प्रपतनम्। हिंदी अर्थ—कृत्यसंज्ञक और ल्युट् प्रत्यय कारकों में बहुलता से होते हैं। पतञ्जलि आचार्य ने पाणिनि प्रोक्त करण सम्प्रदानादि स्थलों के अतिरिक्त कर्म अर्थ में भी कृत् तथा ल्युट् का विधान बताया। अर्थात् गले चोप्यते गले चोपकः। अन्यार्थ अद्यतनार्थ में भी 'श्वोऽग्नीनाधास्यमानेन, श्वः सोमेन यक्ष्यमाणेन'।

खनो घ च (3.3.125)।

करणाधिकरणयोः खनतेः घ-खञौ प्रत्ययौ भवतः। यथा—आखनःआखानःकोलः मूषको वा। हिंदी अर्थ—खनु अवदारणे धातु से घप्रत्यय होता है पक्ष में घञ् प्रत्यय भी होता है। पतञ्जलि आचार्य ने (खनेर्डडरेकवका वाच्यः) यह वार्तिक लिखा, लिखकर कुछ शब्दों का और भी निवेश किया खन् धातु से ड,डर,इक, तथा इकवक प्रत्यय कहना चाहिए। डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः होने पर आखः आखरः, इक प्रत्यय होने पर आखनिकः। इकवक प्रत्यय होने पर आखनिकवकः रूप होता है। यथा—आखः, आखरः, आखनिकः, आखनिकवकः। इमे खनित्रवचनाः।

अन्येभ्योऽपि दृश्यते (3.3.130)।

छन्दसि विषये गत्यर्थेभ्यः अपि अन्येभ्यो धातुभ्यो युच् दृश्यते। यथा सुदोहना। हिंदी अर्थ—वेद के विषय में गत्यर्थ धातुओं के भिन्न से युच् प्रत्यय दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि आचार्य पाणिनि वेदविषयक धातुओं में ही विस्तार किया परंतु आचार्य पतञ्जलि ने लौकिक धातुओं में भी युच् का विधान बताया। जैसे—भाषायां शासियुधिदृशिधृषिभ्यो युच्। लोग में ईषदादि उपपद रहते लोक में शासधातु, युधधातु, दृशधातु धृष् धातु से भी कृच्छ्र आदि अर्थो में युच् कहना चाहिए। प्रत्येक का उदाहरण देते हैं दुःशासनः, दुर्योधनः, दुर्दर्शनः। दुर्धर्षणः। मृष्धातु से भी युच् कहना चाहिए। दुर्मर्षणः। आचार्य पतञ्जलि ने निम्न सूत्रों पर भी भाषा विषयक वैशिष्ट्य का प्रतिपादन किया है। जो कि दर्शनीय है।

वनो र च (4.1.7)।

रविधाने बहुव्रीहेरूपसंख्यानं प्रतिषिद्धत्वात्। और भी अनो बहुव्रीहेः प्रतिषेधे वोपधालोपिनो वावचनम्। इत्यादि रूप से और भी प्रकृत सूत्र को विस्तृत किया गया है। उसी प्रकार अन्य स्त्रीलिङ्गसंबंधी सूत्रों को भी समझना चाहिए।

टिड्ढाणञ्द्वयसज्दध्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः(4.1.14) वयसि प्रथमे (4.1.20) रात्रेश्चाजसौ (4.1.31) अन्तर्वत्पतिवतोर्नुक् (4.1.32)पुंयोगादाख्यायाम् (4.1.4.8)जातेस्त्रीविषयादयोपधात् (4.1.63) पाककर्णपर्णपुष्पफलमूलावालोत्तरपदाच्च (4.1.64) संहितशफलक्षणवामादेश्च (4.1.70) कद्रुकमण्डल्वोश्छन्दसि (4.1.71) यङश्चाप् (4.1.74)

तद्धितसंज्ञकसूत्रों में भी आचार्य पतञ्जलि ने नव नव शब्दों को प्रदान करके भाषासम्बन्धित विकास का प्रयास किया है। निम्नसूत्र भी दर्शनीय है।

सुधातुरकङ् च (4.1.97)। जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ् (4.1.168) दृष्टं साम (4.2.7) गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्रराजराजन्यराजपुत्रवत्समनुष्याजाद् वुञ् (4.2.39)केदाराद्यञ्च (4.2.40) ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल् (4.2.43) क्रतूक्थादि सूत्रान्ताट्ठक् (4.2.60) कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप् (4.2.87) कत्र्यादिभ्यो ढकञ् (4.2.95) कापिश्याः ष्फक् (4.2.99) अरण्यान्मनुष्ये (4.2.129) सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च (4.3.23) अन्तः पूर्वपदाट् ठञ् (4.3.6.0) विभाषा विवधात् (4.4.17) सर्वपुरुषाभ्यां णढञौ (5.1.10) इनच् पिटच्चिकचि च (5.2.33) प्रमाणे द्वयसज्दध्नञ्मात्रचः (5.2.37) ऊषसुषिमुष्कमधो रः (5.2.107) केशाद्वोऽन्यतरस्याम् (5.2.109) छन्दसि बहुलम् (5.2.122) आलजाटचौ बहुभाषिणि (5.2.125)वातारिसाराभ्यां कुक् च (5.2.129) लोहितान्मणौ (5.4.30) तद्युक्तत् दकर्मणोऽण् (5.4.36) मद्रात्परिवापणे (5.4.67) ब्रह्महस्तिभ्यां वर्च्चसः (5.4.78) अञ् नासिकायाः संज्ञायां नसं चास्थूलात् (5.4.118) उपसर्गाच्च (5.4.119) अपस्पराः क्रियासातत्ये (6.1.144)

अपस्पराः इति सुट् निपात्यते क्रियासातत्ये गम्यमाने। अपस्पराः सार्था गच्छन्ति। सन्ततमविच्छेदेन गच्छन्तीत्यर्थः। हिंदी अर्थ—क्रिया सातत्य के गम्यमान होने पर अपरस्पराः शब्द में (अपर सुट् पराः) सुट् का निपातन होता है। आचार्यपतञ्जलि ने (सम्तुमुनोः कामे) लिखा। और अर्थ किया गया कि काम परे रहते सम् तथा तुमुन् संबंधी म का लोप कहना चाहिए। भोक्तुमनाः। (अवश्यमः कृत्ये) लिखकर भी आचार्य ने बताया कि—कृत्य प्रत्ययान्त पर में रहने पर अवश्यम् संबंधी म् का

लोप कहना चाहिए। अवश्यभाव्यम्। इत्यादि। परादिश्छन्दसि बहुलम् (6.2.199)

छन्दसि विषये परादिरुदात्तो भवति बहुलम्। परशब्देनात्र सक्थशब्द एव गृह्यते। यथा अञ्जिसक्थमालभेत। त्वाष्टौ लोमसक्थौ। ऋजुबाहुः। वाक्पतिः। चित्पतिः। (अन्तोदात्तप्रकरणे त्रिचक्रादीनां छन्दस्युपसंख्यानम्) त्रिचक्रेण त्रिबन्धुरेण। त्रिवृता रथेन। (पूर्वपदान्तोदात्तप्रकरणे मरूद्वृद्धादीनां छन्दस्युपसंख्यानम्) मरूद्वृद्धः। पूर्वादिः। (पूर्वपदाद्युदात्तप्रकरणे दिवोदासादीनां छन्दस्युपसंख्यानम्) दिवोदासाय सामगाय ते इत्येवमादिसर्वं संगृहीतं भवति।

हिंदी अर्थ—वेद में उत्तरपदभूत पर शब्द (सक्थ) शब्द का आद्युदात्तत्व भी बाहुल्येन होता है।

परंतु आचार्य पतञ्जलि ने केवल पर सक्थ शब्द को नहीं कहा।

अपितु सब प्रकार से सक्थ के परे रहने पर आद्युदात्त होता है। जैसे आचार्य की कारिका—

पूर्वादिश्च परान्तश्च पूर्वान्तिश्चापि दृश्यते।
पूर्वादयश्च दृश्यन्ते व्यत्ययो बहुलं स्मृतः॥

जो परादिश्छन्दसि बहुलम् कहा यह अल्प है। वस्तुतः परादि, परान्त, पूर्वान्त, एवं पूर्वादि इन सभी से पर सक्थ को विकल्प से आदि उदात्त कहना चाहिए। यह सभी स्वरव्यत्यय बहुलग्रहण लभ्य है। इसके लिए आचार्य ने व्यत्ययो बहुलम् ऐसा कहा।

ऋतो विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः (6.3.23)।

विद्यासम्बन्धयोनिसम्बन्धवाचिन ऋदन्तात् षष्ठ्या अलुग् भवति। यथा होतुरन्तेवासी। होतुः पुत्रः। पितुरन्तेवासी। पितुः पुत्रः।

हिंदी अर्थ—विद्यासम्बन्ध तथा योनिसम्बन्धवाचक ऋदन्त शब्दों से परे षष्ठी का अलुग् होता है। आचार्य पाणिनि तथा कात्यायन के सिद्धांत के आधार पर ''विद्या योनि सम्बन्ध से ही व्यक्त होने के बाद अलुग् विधान कहना चाहिए।'' कात्यायन ने विद्यावाचक से विद्यावाचक तथा योनि वाचक से योनिवाचक हो तभी ही अलुक् कहना चाहिए। ऐसा चिंतन करके ही भाष्यकार ने आक्षेप वार्तिक लिखा—(विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यस्तत् पूर्वोत्तरपदग्रहणम्) अर्थात् ऋदन्त से विद्यासम्बन्ध एवं योनि संबंध उत्तरपद पर रहते षष्ठी का अलुग् कहने में पूर्वपद एवं उत्तरपद

का ग्रहण करना चाहिए। इससे विद्या संबंध से विद्या संबंध उत्तरपद रहते, तथा योनिसंबंध से योनि संबनध उत्तरपद रहते ही षष्ठी का अलुक् कहना चाहिए, अन्यत्र नहीं। ऐसा विचार करके पुनः आचार्य ने पूछा कि क्या विद्या एवं योनि संबंध का व्यतिकर होने पर भी अलुक् होता है तो उत्तर दिया हाँ होता है। उदाहरण जैसे होतुः पुत्रः। पितुरन्तेवासी। यहाँ पर विद्यायोनि दोनों संबंध साथ-साथ है। फिर भी अलुक् है। नेह यहाँ पर विद्या तथा योनि किसी भी प्रकार का संबंध नहीं है। अतः यहाँ लोप हो गया। होतृधनम्। पितृगृहम्। भाष्यवचन—अथैतेषां व्यतिरेकेण भवितव्यम्? बाढं भवितव्यम्। होतुः पुत्रः पितुरन्तेवासी।

वा घोषमिश्रशब्देषु (6.3.56)।

एषूत्तरपदेषु पादस्य पद् वा आदेशो भवति। यथा पद्घोषः। पादघोषः। पन्मिश्रः। पादमिश्रः। पच्छब्दः। पादशब्दः।

हिंदी अर्थ—घोष, मिश्र तथा शब्द उत्तरपद परे हो तो शब्द को विकल्प से पद आदेश होता है। भाष्यकार ने निष्क उत्तरपद परे रहते भी पदादेश की बात कही। (निष्के चोपसंख्यानं कर्त्तव्यम्) पन्निष्केण। पादनिष्केण। पन्निष्कः। पादनिष्कः।

इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य (6.3.6.1)।

इगन्तस्य अङ्यन्तस्य ह्रस्वो वा स्यादुत्तरपदे। यथा ग्रामणिपुत्रः। ग्रामणीपुत्रः। ब्रह्मबन्धुपुत्रः। ब्रह्मबन्धूपुत्रः।

हिंदी अर्थ—उतरपदपरे हो तो अङ्यन्त इगन्त को विकल्प से ह्रस्व होता है। पुनः आचार्य पतञ्जलि ने कुछ स्थलों के लिए निषेध किया—'इयङुवङव्ययप्रतिषेधः'। इस वार्तिक का यह विस्तृतत रूप है।

(इङुवङ्भाविनामव्ययानां च नेति वाच्यम्) अर्थात् जिस इ को इयङ् आदेश जिस उ को उवङ् आदेश होता है एवं अव्यय संबंधी इ, उ को वैकल्पिक उपरोक्त सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है। यथा श्रीमदः। भ्रूभङ्गः। शुक्लीभावः। भगवान् पतञ्जलि—अपर आह। अकारो भ्रुकुंसादीनामिति वक्तव्यम्। भ्रकुटिः। भ्रकुंसः। भगवान् पतञ्जलि ने कुछ अन्य आचार्यो का मत भी दर्शाया है कि कुछ आचार्य ह्रस्वादि कार्य न करके अकार का विधान करते हैं। अभ्रुकुंसादीनामिति वक्तव्यम् भ्रुकुंसः। भ्रुकुटिः। अकारोऽनेन विधीयते इति व्याख्यान्तरम्। भ्रकुंशः। भ्रकुटिः। भ्रुवा कुंसो भाषणं शोभा वा यस्य सः। स्त्रीवेशधारीनर्तकः। भ्रुवःकुटिः। कौटिल्यम्।

कारे सत्यागदस्य (6.370)।

कारे उपपदे सत्यस्य अगदस्य च मुगागमो भवति। यथा सत्यं करोतीति सत्यस्य वा कारः सत्यंकारः, अगदंकारः।

हिंदी अर्थ—कारशब्द उत्तरपद परे हो तो सत्य और अगद शब्द को मुमागम होता है। आचार्य कात्यायन ने अन्य शब्दों का भी निवेश किया यथा— (अस्तोश्चेति वक्तव्यम्) अस्तुङ्कारः। अस्तु शब्द का और भी निवेश करना चाहिए। (धेनोर्भव्यायाम्) धेनु उपपद पूर्वक भी मुमागम कहना चाहिए। धेनुम्भव्या। (लोकस्य पृणे उपसंख्यानम्) पृण उत्तरपद परे रहते भी लोकशब्द पूर्वपद रहते मुमागम कहना चाहिए। लोकम्पृणः। पृण इति मूलविभुजत्वात् कः। इत्येऽनभ्यासस्य इत्य उत्तरपद रहते अनभ्यास पूर्व पद को मुम कहना चाहिए। अनभ्यासमित्यः। अनभ्यासमित्यस्य दूरतः परिहर्त्तव्य इत्यर्थः। (भ्राष्ट्रग्न्योरिन्धे) भ्राष्ट्रमिन्धः। अग्निमिन्धः। महाभाष्यकार ने यह यहाँ पर और भी निषेध किया। (गिलेऽगिलस्य उपसंख्यानम्) तिमिङ्गिलः। (गिलगिले च) तिमिङ्गलगिलः। (उष्णभद्रयोः करणे) उष्णंकरणम्। भद्रंकरणम्।

इको वहेऽपीलोः (6.3.121)।

पीलुवर्जितस्येगन्तस्य दीर्घो भवति वहेः। यथा—ऋषीवहम्। कपीवहम्।

हिंदी अर्थ—वह उत्तरपद परे हो तो पीलुवर्जित इगन्त पूर्वपद को दीर्घ होता है।

महाभाष्यकार ने (अपील्वादीनामिति वक्तव्यम्) अर्थात् केवल पीलु शब्द का ही नहीं अपितु अन्यों का भी योग होने पर निषेध कहना चाहिए। तेनेह न दाऊवहम्।

उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम् (6.3.122)।

घञन्ते परे उपसर्गस्य बहुलं दीर्घो भवति, न तु मनुष्ये। यथा—परीपाकः। परिपाकः।

हिंदी अर्थ—घञन्त परे हो तो उपसर्ग को बहुल करके दीर्घ होता है। लेकिन मनुष्य परे हो तो नहीं होता है।

भाष्यकार ने अमनुष्य के स्थान पर 'अमनुष्यादिष्विति वक्तव्यम्' ग्रहण किया। प्रसेवः। प्रसारः। प्रहारः। यहाँ पर भी 'सादकारयोः कृत्रिमे' साद और कार कृत्रिम हो तो दीर्घ होगा तथा यदि अकृत्रिम हो तो दीर्घ नहीं होगा। एषोऽस्य प्रसादः।

एषोऽस्य प्रकारः। प्रसादः प्रकारः में वास्तविक स्थिति का वितरण है।

गमः क्वौ (6.4.4.0)।

गमः क्वौ परेऽनुनासिकलोपो भवति। अङ्गगत्। कलिङ्गत्।

हिंदी अर्थ—क्विप् प्रत्यय परे होने पर गम् धातु के अनुनासिक का लोप होता है। भाष्यकार ने (गमादीनामिति वक्तव्यम्) यह पढ़कर अन्य धातुओं के अनुनासिक का भी लोप करने को कहा। संयत्, सुनत्, परीपत्। (ऊङ् च गमादीनामिति वक्तव्यम्) क्विप् प्रत्यय परे गमादियों के अनुनासिक का लोप तथा अन्त्य अकार को ऊङ् आदेश भी कहा चाहिए। लोपश्च। अग्रेगुः। भ्रमु–अग्रेभ्रूः।

वर्षाभ्वश्च (6.4.84)।

वर्षाभ्वः उवर्णस्य यण् स्यादचि सुपि। यथा—वर्षाभ्वौ। वर्षाभ्वः।

हिंदी अर्थ—अजादिसुप् पर में हो तो वर्षाभू अङ्गसंज्ञक को यण् आदेश होता है। आचार्य पतञ्जलि ने दो शब्दों का और भी निवेश किया। (दृन्करपुनः पूर्वस्य भुवो यण् वक्तव्यः) दृन्करभू। पुनर्भू शब्द को भी यण् कहना चाहिए। दृन्भ्वम्। दृन्भ्वः। इत्यादि खलपूवत्।

इद् दरिद्रस्य (6.4.114)।

दरिद्रातेरिकारः स्याद् हलादौ क्ङिति सार्वधातुके परे। यथा दरिद्रितः। दरिद्रिथः। दरिद्रिवः। दरिद्रिमः।

हिंदी अर्थ—हलादि कित् ङित्त सार्वधातुक परे हो तो दरिद्राधातु के आकार को इकारादेश होता है। आचार्य पाणिनि सार्वधातुक संज्ञक प्रत्यय के पूर्व स्थित दरिद्रा धातु के आकार को इत्व का विधान बताया। परंतु आचार्य कात्यायनने लिखा 'दरिद्रातेरार्धधातुके लोपः' अर्थात् आर्धधातुक संज्ञक प्रत्यय के परे रहते दरिद्रा के आकार का लोप होता है। दरिद्रा धातु की एक व्युत्पत्ति और भी पाई जाती है। दरिद्रातीति दरिद्रः। आचार्य पतञ्जलि ने दिदरीद्रासति। दिदरिद्रिसति दोनों रूपों को साधु माना है।

न दरिद्रायके लोपो दरिद्राणे च नेष्यते।
दिदरिद्रासतीत्येके दिदरिद्रिषतीति वा॥

दरिद्रायकः में ण्वुल् होने पर आकार का लोप नहीं होता। यहाँ 'आतो युक् चिण्कृतोः' (7.3.33) सूत्र से युक् का आगम होता है। दरिद्राणम् में जहाँ ल्युट् है वहाँ भी दरिद्रा धातु के आकार का लोप नहीं होता। दरिद्रा से सन् प्रत्यय करने पर कोई आचार्य यहाँ पर भी लोप नहीं चाहते हैं। उनके मत में दिदरिद्रासति यह आकार घटित रूप होगा। यहाँ इस पक्ष में सन् को इडागम भी नहीं होता है। यहाँ कोई आचार्य धातु से आकार का लोप चाहते हैं। उनके मत में आकार को इत्व होकर दिदरिद्रिषति यह इकार घटित रूप होगा। यहाँ सन् को इडागम भी है।

अर्वणस्त्रसावनञः (6.4.127)

नञा रहितस्यार्वन्नित्यस्य तृ इत्यन्तादेशो भवति, न तु सौ परे।

यथा—अर्वन्तौ। अर्वन्तः।

हिंदी अर्थ—सु से भिन्न प्रत्यय परे हो तो नञ् वर्जित से परे अर्वन् शब्द को तृ आदेश होता है।

अर्वणस्तृ मघोनश्च न शिष्यं छान्दसं हि तत्।
मतुब्वन्योर्विधानाच्च छन्दस्युभयदर्शनात्॥

आचार्य पतञ्जलि ने इन दोनों शब्दों को मात्र वेदपरक ही मानते हैं। लोक में इनका प्रयोग न्याय्य नहीं है। वेद में जैसा प्रयोग है उनके अनुसार ही विधि होती है। इसके लिए मतुब्वन्योरिति ऐसा आचार्य पढ़ते है। मघवन् में मतुप् है। अर्वन् में वन् ये दोनों वेद में ही प्रयुक्त होते हैं। केशाद्वोऽन्यतरस्याम् 5.2.109 छन्दसीवनिपौ इत्यादि स्थलों पर इस विषय का विवेचन मिलता है।

अश्वक्षीरवृष, लवणानामात्मप्रीतौ क्यचि (7.1.51)।

एषां क्यचि परे असुगागमो भवति। श्रीरस्यति बालकः। लवणस्यति उष्ट्र।

हिंदी अर्थ—आत्मप्रीति के विषय में क्यच् प्रत्यय परे हो तो अश्व, क्षीर, वृष और लवण अङ्ग को असुक् आगम होता है। कात्यायन ने मैथुन एवं लालसा एर्थ में असुगागम की बात करते हैं। (अश्ववृषयोर्मैथुनेच्छायाम्) अश्वस्यति वडवा। वृषस्यति गौः। क्षीरलवणयोर्लालसायाम्।

परंतु आचार्य पतञ्जलि ने (सर्वप्रातिपदिकानां क्यचि लालसायां सुगसुकौ) सभी प्रातिपदिकों से लालसा अर्थ गम्यमान हो तो क्यच् प्रत्यय परे रहने पर सुक्

एवं असुक् आगम कहना चाहिए। दधिस्यति दध्यस्यति। मधुस्यति। मध्वस्यति। कुछ आचार्य सभी प्रातिपदिकों से लालसा मात्र अर्थ गम्यमान हो तो सुक् कहना चाहिए।

अपराह। सर्वप्रातिपदिकेभ्यो लालसायामिति वक्तव्यम्। अपर आहसुग्वक्तव्यः।

हृषेर्लोमसु (7.2.29)।

लोमसु विषये हृषेर्निष्ठाया वा इडागमो भवति। यथा हृष्टानि। हृषितानि लोमानि।

हिंदी अर्थ—लोम विषय में वर्त्तमान हृष धातु से परे निष्ठा प्रत्यय को विकल्प से इडागम होता है। दृष्टानि लोमानि। हृषितानि लोमानि। आचार्य पतञ्जलि विस्मित तथा प्रतिघात अर्थ में भी वैकल्पिक इडागम की व्यवस्था दिया। विस्मितप्रतिघातयोरिति वक्तव्यम्। हृष्टो देवदत्तः। हृषितो देवदत्तः। हृष्टा दन्ताः। हृषिताः दन्ताः।

नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः (7.3.34)।

उपधायाः वृद्धिर्न भवति चिणि, ञिति, णिति, कृति च। यथा—अशमि। अतमि। कृति–शमकः। तमकः।

हिंदी अर्थ—चिण् और ञित्, णित्, कृत्, प्रत्यय परे हो तो आङ् पूर्वक चम् वर्जित उदात्तोपदेश मान्त अंग को वृद्धि नहीं होती है।

यहाँ आचार्य पतञ्जलि ने लिखा अत्यल्पमिदमुच्यते—अनाचमेरिति। अनाचमिकमिवमीनाम्। अर्थात् यहाँ चम् के साथ कमु कान्तौ तथा टुवम अद्गिरणे का भी निषेध करना चाहिए। इससे आचामः। वामःकामः इत्यादि की सिद्धि होती है।

न यासयोः (7.3.45)।

यत्तदोरस्येन्न स्यात् यथा यका सका। (त्यकनश्चनिषेधः) उपत्यका। अधित्यका। (आशिषि चोपसंख्यानम्) जीवतात् जीविका। भवका। (उत्तरपद लोपो न) देवदत्तिका, देवका। (शिपकादीनाञ्च) क्षिपका। ध्रुवका। कन्यका। चटका। (तारका ज्योतिषि) तरका अन्यत्र तारिका। (वर्णका तन्तवे) वर्णका। अन्यत्र वर्णिका। (वर्त्तकाशुकनौ प्राचाम्) उदीचां तु वर्त्तिका। (अष्टाका पितृदेवत्ये) अष्टिकअन्यत्र। (सूतकापुत्रिकावृन्दारकाणां वेति वाच्यम्) सूतिका। सूतका। पुत्रिका। पुत्रका। वृन्दारिका। वृन्दारका।

हिंदी अर्थ—असुप् आप् परे हो तो प्रत्ययस्थ ककार से पूर्व या और सा के अकार को इकारादेश नहीं होता है।

भाष्यकार ने न यासयोः के साथ नयत्तदोः भी जोड़ा। तथा यकां तकां इत्यादि की सिद्धि दर्शाते है। अर्थात् यहाँ पर भी इत्वादि नहीं होता। न यासयोः। न यत्तदोः। इहापि यथा स्यात् यकां यकामधीते। तकां तकां पचामहे।

भोज्य भक्ष्ये (7.3.69)।

शक्यार्थे भक्ष्ये भोज्यं निपात्यते। यथा—भोज्य ओदनः।

हिंदी अर्थ—शक्यार्थ में भक्ष्य अभिधेय हो तो कुत्वाभाव करके भोज्य निपातन किया गया है। आचार्य पाणिनि ने भोज्य में कुत्व का अभाव बताया तथा जो कठोर पदार्थ हो एवं खाते समय आवाज़ करे उसके लिए भक्ष्य का प्रयोग किया जाना चाहिए। परंतु कात्यायन का मानना है कि भक्ष्य केवल पेय पदार्थ के लिए किया जाना चाहिए। भक्ष्य के लिए एक नया शब्द दिया गया अभ्यवहार। परंतु पतञ्जलि ने दोनों पदार्थों के लिए ही भक्ष्य का प्रयोग किया है। भक्ष्य केवल खरविशाद (गला विवर संयोग) मात्र नहीं है। अपितु अभ्यवहार्य अर्थ में भी प्रयोग किया जा सकता है। ये प्रयोग सामान्य भक्ष्य, पेय भक्ष्य, उभय प्रकारक पदार्थों के लिए दोनों प्रयोग किए जा सकते है। इस प्रकार तीन स्तर पर इन शब्दों का प्रयोग किया जा सकता है। कात्यायन ने पकी दाल के लिए अर्थात् पेय पदार्थ के लिए भक्ष्य का प्रयोग किया। पाणिनि के अनुसार ठोस पदार्थो के भक्ष्य व्यवहार हैं। परंतु पतञ्जलि ने दोनों के प्रति सामान्य व्यवहार किया है। उदाहरण दिया जल मात्र को खाता है। वायु मात्र को खाता है।

अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः (7.3.107)।

अम्बार्थानां नद्यन्तानां चाङ्गानां ह्रस्वो भवति। सम्बुद्धौ परे। यथा हे अम्ब! हे अक्क! हे अल्ल! नद्याः—हे कुमारि! वीरबन्धु!

हिंदी अर्थ—सम्बुद्धिपरे होने पर अम्बार्थ (माता के वाचक) और नद्यन्त अंग को ह्रस्वोपदेश होता है। आचार्यपाणिनि ने दीर्घ आकारान्त अम्बा,अक्का,अल्ला के विषय में ह्रस्व का विधान बताया। ये सभी समानार्थक शब्द है। परवर्ती व्याख्याकारों ने अम्बाडे, अम्बाले, अम्बिके, इत्यादि के लिए वार्तिक लिखा—(डलकवतीनां प्रतिषेधो वक्त व्यः)यथा हे अम्बाडे! हे अम्बाले! हे अम्बिके!। (छन्दसि वेति

वाच्यम्) हे अम्बाड! हे अम्बाडे! हे अम्बाल! हे अम्बाले!। डलकवतीनां में प्रशंसा अर्थ में मतुप् प्रत्यय होता है। अर्थात् अर्थगत स्त्रीत्व को लेकर अम्बार्थक शब्द निर्दिष्ट है। अथवा श्रुती की अपेक्षा से स्त्रीत्व निर्दिष्ट है। डवती लवती और कवती अम्बार्थक को ह्रस्व का निषेध कहना चाहिए। यहाँ पर असंयुक्त निर्देश होने से संयुक्त कवती अक्का एवं लवती अल्ला को ह्रस्व निषेध नहीं होगा। पुनः यह वार्तिक भी प्राप्त होता है 'तस्य भावस्त्वतलौ' (5.1.119) के ग्रहण में तदन्त का ग्रहण होगा। अतः तलन्त को ङि और सम्बुद्धि पर रहते विकल्प से ह्रस्व कहना चाहिए। जैसे— (तलो ह्रस्वो वा ङिसम्बुद्ध्योरिति वक्तव्यम्) जैसे सम्बुद्धि पर रहते है देवत ! ङिपर रहते हे देवते! यहाँ क्रमशः ह्रस्व और गुण एकादेश है। ह्रस्व के अभाव पक्ष में सम्बुद्धि पर रहते एत्व होकर हे देवते! ङिपर रहते देवतायां ऐसा रूप होता है। वा। हे देवते। हे देवता। पुनः प्रश्न हुआ कि तो डलवतीनां वार्तिक करना चाहिए अथवा नहीं। ऐसा प्रश्न करके भाष्यकार ने उत्तर दिया—स तर्हि प्रतिषेधो वक्तव्यः। स कथं न वक्तव्यो भवति? अम्बार्थं द्वयक्षरं यदि। यद्यम्बार्थं द्वयक्षरं गृह्यते। यह निषेध पढ़ने की आवश्यकता नहीं है। सूत्र में अम्बार्थ दो अक्षर वाला पढ़ा गया है। तत्सानिध्य से दो अक्षर वाले अम्बार्थक का ग्रहण करना चाहिए। तदितर तीन आदि अक्षरों वाला अम्बार्थक अम्बाडा अम्बाला अम्बिका आदि का फलतः स्वयं निषेध हो जाएगा एतदर्थ वार्तिक की आवश्यकता नहीं है। यह सूत्र से ही गतार्थ है। पुनः प्रश्न हुआ अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः सूत्र करना चाहिए अथवा नहीं ऐसा प्रश्न करके उत्तर दिया अवश्य पढ़ना चाहिए। जिससे व्यत्ययो बहुलम् (3.1.85) से अन्यत्र भी ह्रस्व हो सके। इसका फल 'उपगायन्तु मां पत्नयो गर्भिणियो युवतयः।' यहाँ जस् प्रत्यय परे रहते नहीं संज्ञक गर्भिणीपद को ह्रस्व होने से गुण अयादेश होकर गर्भिणयः रूप सिद्ध होता है। अन्यथा ह्रस्व के अभाव गर्भिण्यः यहीं रूप रहता। अन्य वार्तिक की कल्पना—'मातृणां मातच् पुत्रार्थमर्हते' जो मातृशब्द पुत्राभिधान के लिए प्रयुक्त हो उसको मातच् आदेश कहना चाहिए। अर्थगत पूजा द्योतकत्व बहुत्व को लेकर मातृणां यह बहुवचन निर्देश है। ये आदेश भी संबुद्धि के परे ही होगे अन्यत्र नहीं। मातृणां मातजादेशो वक्तव्यः पुत्रार्थमहेते। गार्गीमात। वास्तीमात।

भ्राजभासभाषदीपजीवमीलपीडामन्यतरस्याम् (7.4.3)।

एषामुपधायाः ह्रस्वो वा भवति। चङ् परे णौ। यथा अबभ्राजत्। अबिभ्रजत्। अवभासत्।

अबीभसत्। अबभासत्। अबीभाषत्। अदिदीपत्। अदीदिपत्। अजीजिवत्। अजिजीवत्। अमीमिलत्। अमिमीलत्। अपीपिडत्। अपिपीडत्।

हिंदी अर्थ—चङ् परक णि परे हो तो भ्राज, भास, भाष, दीप, जीव, मील, पीड, अंग के उपधा को विकल्प से ह्रस्वादेश होता है।

आचार्यपतञ्जलि ने सूत्रपठित से अतिरिक्त का भी कथन किया। काण्यादीनाम् वेति वाच्यम्। वे कण्यादी कौन है तो लिखते हैं—काणिराणिश्राणिभाणि हेठिलोपयः। अर्थात् काणि राणि श्राणि हेठि लोपि ये काण्यादी हैं। लुङ् लकार एकवचन में उदाहरणों को स्पष्ट किया गया है। अचकाणत्। अचीकणत्। अरराणत्। अरीरणत्। अशश्राणत्। अशीश्रणत्। अबभाणत्। अबीभणत्। अजिहेठत्। अजीहेठत्। अलुलोपत। अलूलोपत्।

न च्छन्दस्य पुत्रस्य (7.4.35)।

छन्दसि विषये पुत्रभिन्नस्यादन्तस्य क्यचि ईत्वदीर्घौ न भवतः। यथा—मित्रयुः। क्याच्छन्दसीति उः। (अपुत्रादीनामिति वाच्यम्) जनीयन्तो नवग्रहः। जनमिच्छन्त इत्यर्थः।

हिंदी अर्थ—छंद के विषय में क्यच् प्रत्यय परे हो तो पुत्र शब्द वर्जित अदन्त अंग को ईत्व और दीर्घादेश नहीं होता है।

महर्षि पतञ्जलि ने लिखा—कि आचार्य पाणिनि प्रोक्त अल्प है। औरों का भी परिगणन करना चाहिए। अत्यल्पनिमदमुच्यतेऽपुत्रस्येति। अपुत्रादीनामिति वक्तव्यम्। इहापि यथा स्यात् जानीयन्तोन्यग्रवः पुत्रीयन्तः सुदानवः।

शाच्छोरन्यतरस्याम् (7.4.41)।

अनयोर्वा इदन्तादेशो भवति तादौ किति। यथा शितः। शातः। छितः। छातः। व्यवस्थितविभाषात्वात् व्रतविषये श्यतेर्नित्यम्। संशितं व्रतम्। सम्यग्सम्पादितमित्यर्थः। संशितो विप्र;। व्रतविषयकयत्नवानित्यर्थः।

हिंदी अर्थ—तकारादि कित् प्रत्यय परे हो तो शा (शोतनूकरणे) और छा (छो छेदने) अंगसंज्ञक धातु को विकल्प से इकारादेश होता है।

भगवान् पाणिनि ने भाषा को बदल-बदल कर प्रयोग किया है। भगवान् पतञ्जलि ने अन्य धारणा में उसी का प्रयोग किया है। कात्यायन ने नित्य रूप में स्वीकार किया। आचार्यपतञ्जलि ने यह कारिका भी लिखा।

देवत्रातो गलो ग्रहः इति योगे च सद्विधिः।
मिथस्ते न विभाष्यन्ते गवाक्षः संशितव्रतः॥

जैसे त्रैङ् पालने धातु से पर में निष्ठा के तकार को नुदविदोन्दत्राघ्राह्रीभ्यो-ऽन्यतरस्याम् (8.2.56) के द्वारा विकल्प से नत्व विहित है। त्रातः। त्राणः। परंतु संज्ञा अर्थ वाच्य होने पर व्यवस्थित विभाषा के द्वारा देवत्रातः भवत्रातः इत्यादि स्थलों में नित्य ही नत्व का अभाव होता है। एवं अचि विभाषा (8.2.21) सूत्र से अजादि प्रत्यय पर रहते गृनिगरणे धातु (937) से रेफ को विकल्प से लत्व विहित है। परंतु प्राण्यङ्ग वाच्य होने पर व्यवस्थित विभाषा के द्वारा नित्य ही लत्व होता है। गलः। विष अर्थ वाच्य होने पर व्यवस्थितविभाषा के द्वारा ही नित्य लत्व होता है। गरः विषः। क्रिया अर्थ वाच्य होने पर गरो गलूः यह रूप होता है। इसी तरह ग्रह उपादाने धातु (1534) से पर में विभाषा ग्रहः (3.1.143) सूत्र आश्रय अर्थ में ण प्रत्यय का विधान करता है तथा पक्ष में पचादि अच् प्रत्यय होता है। यहाँ पर भी व्यवस्थितविभाषा के द्वारा जलचर मत्स्य आदि वाच्य होने पर ग्रह धातु से पर णप्रत्यय उपधा को वृद्धि होकर ग्राहः यहीं रूप बनता है। ज्योतिः सूर्य चंद्र आदि वाच्य होने पर ग्रहधातु से पर में पचाद्यच् प्रत्यय होकर ग्रहः यहीं रूप बनता है। एवं लक्षणहेत्वोः क्रियायाः (3.2.126) सूत्र से क्रिया का परिचायक और हेतु अर्थ शक्त धातु से पर में लट् के स्थान पर शतृ और शानच् आदेश होते है। परंतु हन्तीति पलायते वर्षतीति धावति इत्यादि में इति शब्द का प्रयोग होने पर नहीं होता है। एवम् अच् पर रहते गोशब्द को विभाषा के द्वारा अवङ् स्फोटायनस्य (6.1.123) से अवङ् आदेश विहित है। वह वातायन वाच्य होने पर ही होगा। परंतु यदि प्राण्यङ्ग (गाय की आँख वाच्य है) तो गोऽक्षी यहीं रूप होगा। इससे भिन्न अर्थ में अवङादेश होकर गवाक्ष और पूर्व रूप होकर गोऽक्षम् यह दोनों रूप होता है। वैसे प्रकृति में व्रत वाच्य होने पर संशितव्रतः ऐसा रूप होने पर व्यवस्थितविभाषा से नित्य ही होगा। इसके लिए (श्यतेरित्वं व्रते नित्यम्)यह वार्तिक पढ़ने की आवश्यकता नहीं है। उपरोक्त विभिन्न विषय में विकल्पित होते हैं।

अपो भि (7.4.48)

अपस्ताकारादेशो भवति भादौ प्रत्यये परे। यथा अद्भिः। अद्भ्यः।

हिंदी अर्थ—अकारादि प्रत्यग परे हो तो अप् अंग को तकारादेश होता है। भाष्यकार पतञ्जलि ने—अत्यल्पमिदमुच्यते। स्ववस्स्वतवसोर्मास उषसश्च त इष्यते।

स्ववद्धिः। स्तवद्धिः। समुषद्धिरजायथाः। मासशब्द को भादिप्रत्यय परे रहते तादिविधान अत्यल्प है। स्ववस्, मास और उषस् शब्द को भी भादि प्रत्यय परे रहते तादेश कहना चाहिए। जैसे स्वद्धिः। स्तवद्धिः। समुषद्धिः। माद्धिः।

धि च (8.2.25)।

धादौ प्रत्यये परे सकारस्य लोपो भवति। यथा एधिताध्वे।

हिंदी अर्थ—धकारादि प्रत्यय परे हो तो सकार का लोप होता है। महाभाष्यकार ने चकाद्धि, अथवा चकाधि इन दोनों रूपों में क्या इष्ट है इस प्रश्न का एक श्लोकवार्तिक लिखा—

धिसकारे सिचो लोपश्चकाद्धीति प्रयोजनम्।
आशाध्वं तु कथं ते स्याज्जश्त्वं सस्य भविष्यति ॥1
सर्वत्रैवं प्रसिद्धं स्याच्छ्रुतिश्चापि न भिद्यते।
लुङ्श्चापि न मूर्द्धन्ये ग्रहणं सेटि दुष्यति ॥2
घसिभस्योर्न सिध्येत्तु तस्मात्सिज्ग्रहणं न तत्।
छान्दसो वर्णलोपो वा यथेष्कर्तारमध्वरे ॥3

श्लोकार्थ—आप कैसे कहते हैं कि रेफ से पर में कहीं सिच् को छोड़कर अन्य सकार नहीं है। मातुरस् पितुरस् पञ्चमी षष्ठी एकवचन में रेफ से पर में सकार मिल गया अतः उसका लोप रात्सस्य (8.2.2.4) से होगा। अतः धि च सूत्र से सिच् का ग्रहण करना ही चाहिए। जो नहीं। धि च सूत्र में सिच् का ग्रहण नहीं करना चाहिए। फिर चकाद्धि में सिच् का लोप क्यों नहीं होता है। चकाद्धि यह रूप उचित नहीं है। चकाधि यहीं इष्ट रूप है। महाभाष्य में पंक्ति स्पष्ट है। इष्टमेवैतत्संगृहीतम्। चक्राधीरित्येव भवितव्यम्।

अनुपसर्गात् फुल्लक्षीबकृशोल्लाघाः (8.2.55)।

उपसर्गरहिता इमे निपात्यन्ते। यथा ञि–फला–फुल्लः। निष्ठातस्य लत्वं निपात्यते। क्तवत्वेकदेशास्यापीदं निपातनमिष्यते। फुल्लवान् क्षीबादिषु तु क्तप्रत्ययस्यैव तलोपः। तस्यासिद्धत्वात् प्राप्तसेटोऽभावश्च निपात्यते। क्षीबो मत्तः कृशः तनुः उल्लाधो निरोगः।

हिंदी अर्थ—उपसर्ग रहित फुल्लादि शब्द निपातित होता है।

आचार्य पाणिनि तथा कात्यायन ने दो शब्दों पर विचार नहीं किया था उनका

भी आचार्यपतञ्जलि ने निवेश किया। परिकृशः, सम्फुल्लः। इनकी भी निपातनात् सिद्धि समझनी चाहिए।

असदोऽसेर्दादुर्दोमः (8.2.80)।

अदसोऽसन्तस्य दात् परस्य उदूतौ भवतः। दस्य च मः। यथा अमुम्। अमू। अमून्।

हिंदी अर्थ—असकारान्त अदस् शब्द के दकार से परे अवर्ण को उतथा ऊ आदेश होता है और दकार को मकार आदेश होता है।

अदसोद्रेः पृथङ्मुत्वं केचिदिच्छन्ति लत्ववत्।
केचिदन्त्यसदेशस्य नेत्येकेऽसेर्हि दृश्यते॥

सूत्र व्याख्या प्रसंग में उपरोक्त कारिका का भाष्यकार ने तीन प्रकार से व्याख्यान किया जैसे—अदस् के टि को अद्रि आदेश करने पर अदद्र्यङ् इस स्थिति में लत्व की तरह प्रथम और द्वितीय दकार को मकार तथा द से उत्तर वर्ण अवर्ण और रेफ को युगपत् उत्व मानते हैं, ऐसा एक आचार्य का मत है। जैसे कृपू समर्थे धातु 962 से यङ्न्त चरीकृप्यते इस स्थिति में 'कृपो रो लः' 8.2.18, से रेफ एवं ऋकार को युगपत् लत्व होकर चलीक्लृप्यते रूप होता है। वैसे अदद्र्यङ् स्थल में दकार को मकार तथा दकारोत्तर अकार और रेफ को युगपत् उत्व होकर अमुमुयङ् रूप होगा।

दूसरे आचार्य अन्त्य का बाध होने पर अन्त्य के समीप को कार्यी मानते हैं। उनके मत में अदमुयङ् रूप होगा।

तीसरे कहते हैं कि सूत्र में असेः निर्देश है वहाँ अः सेः सस्य स्थाने सः असिः तस्य ऐसा व्यधिकरण बहुव्रीहि होने से असन्त अदस् ही लिया जाएगा। अतः अदद्रूयङ् स्थल में असन्त न होने से उत्व मत्व नहीं होगा। जिससे अदद्र्यङ् यहीं रूप होगा।

प्रत्यभिवादेऽशूद्र (8.2.83)।

अशूद्रविषये प्रत्यभिवादे यद् वाक्यं तस्य टेः प्लुतो भवति। स चोदात्तः। यथा अभिवादये यज्ञदत्तोऽहम्। मो आयुष्मानेधि यज्ञदत्त3। (स्त्रियां न)अभिवादये गार्ग्यहम्। भो आयुष्मती भूयाः गार्गि। (भोजरान्यविशां वेति वक्तव्यम्) आयुष्मानेधि भोः 3। आयुष्मानेधीन्द्रपालित3, आयुष्मानेधीन्द्रपालित।

हिंदी अर्थ—शूद्रभिन्न के प्रत्यभिवादन में वाक्य के टि को उदात्त प्लुत होता है। महाभाष्यकार ने सूत्रकार के सूत्र पर लिखा 'अत्यल्पमिदमुच्यतेऽशूद्रे इति'। 'अशूद्रस्य सूयकेष्विति वक्तव्यम्'। शूद्र एवं असूयक विषयक अभिवादन में टि को प्लुत नहीं होता। परंतु कात्यायन ने 'भो राजन्यविशां वा'। राजन्य एवं वैश्य विषय में वैकल्पिक व्यवस्था है। अर्थात् अनिवार्य नहीं है।

अग्नीत्प्रेषणे परस्य च (8.2.92)।

यज्ञकर्मणि अग्नीधः प्रेषणे परस्यादेश्च प्लुतो भवति। ओ3श्रा3वय।

हिंदी अर्थ—यज्ञ कर्म विषयक अग्नीध् के प्रेषण पर और आदि दोनों वर्णो को प्लुत होता है। महाभाष्यकार ने प्लुतसामान्य के विषय में लिखा कि सभी प्लुत विकल्प विषयक है। अपर आह। सर्व प्लुतः साहसमनिच्छता विभाषा वक्तव्यः।

विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः (8.4.6.)।

एभ्य उत्तरस्य वनस्य णत्वं वा भवति। यथा—दूर्वाणम्। दूर्वानम्। शिरीषवणम्। शिरीषवनम्।

हिंदी अर्थ—ओषधि और वनस्पतिवाचक शब्दों से परे वनस्थ नकार को विकल्प से णकारापदेश होता है। महाभाष्यकारपतञ्जलि ने—द्वयक्षरत्र्यक्षरेभ्य इति वक्तव्यम्। इह मा भूत् देवदारूवनम् इरिकादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः। इरिकावनम्। तिमिरवनम्। दो अक्षर विशेष अथवा तीन अक्षर विशेष से परे वन शब्द के न को ण कहना चाहिए। यदि उससे अधिक से परे हो तो णत्व नहीं कहना चाहिए।

उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य (8.4.61)।

उदः परयोः स्थास्म्भोः पूर्वसवर्णादेशो भवति। यथा—उत्थाता। उत्थातुम्। उत्थातव्यम्। उत्तम्भिता। उत्तम्भितुम्। उत्तम्भितव्यम्।

हिंदी अर्थ—उद् से परे स्था और स्तम्भ को पूर्वसवर्णादेश होता है।

आचार्य पतञ्जलि ने उपरोक्त दो शब्दों के साथ स्कदंक का और भी निवेश किया। अतः उत्कन्दः की सिद्धि होती है। यहाँ पर सामान्य रूप से भाषा विषयक परिवर्तनों का निर्देश किया गया है, और भी जानने के लिए बहुत परिश्रम की आवश्यकता है।

आचार्यपतञ्जलि द्वारा परिभाषा एवं न्याय के प्रयोग की विधि

आचार्य पतञ्जलि ने प्रयोग साधन पद्धति में अनेक परिभाषाओं तथा न्यायों का प्रयोग किया है। कुछ तो आचार्य ने स्वयं बनाया कुछ पूर्व आचार्य परिकल्पित वचनों को आधार बनाया। इसके माध्यम से आचार्य ने अनेक-अनेक सूत्रों तथा वार्तिकों का खंडन भी किया है, तथा खंडनोंपरान्त उन पूर्व आचार्य के वचनों का अदृष्ट पुण्यार्थक मानकर पारायणकृत वैशिष्ट्य का विश्लेषण भी किया है। आचार्य ने लिखा—''सामर्थ्ययोगान्नहि किञ्चिदत्र पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्।'' किञ्चिद् शुद्धदृष्टार्थवत्। किञ्चित् दृष्टादृष्टार्थवत् सामान्यम्। किञ्चिच्च शुद्धादृष्टार्थवत् इति। कुछ मुख्य मुख्य स्थलों का दिग्दर्शन करने का प्रयास किया जा रहा है। जैसे—

1. व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि संदेहादलक्षणम्

इस परिभाषा में आचार्य द्वारा पठित अक्षरसमाम्नाय में अ इ उ ण् तथा लण् सूत्र में णकारद्वय से अणादि प्रत्याहार के ग्रहण में संदेह होता है, पूर्व पर के ग्रहण में कोई प्रमण नहीं दिखता, अतः कहाँ पर पूर्व णकार पर्यंत लिया जाए कहाँ पर परणकार पर्यंत लिया जाए इस प्रकार के संदेह होने पर आचार्य पतञ्जलि ने परिभाषा बनाया तथा उससे स्पष्ट किया अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः सूत्र के अतिरिक्त सभी सूत्रों में अण् प्रत्याहार पूर्व णकार पर्यंत लिया जाएगा। अन्य संदेहों की निवृत्ति हेतु महाभाष्य के 1.3.10.1.3.11.32.57.3.2.58 और 7.1.13 इत्यादि सूत्रों को भी देखा जा सकता है। वहाँ कहा गया कि 'संदेहमात्रमेतत् भवति'। सर्वसंदेहेषु चेदमुपतिष्ठते तदा व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः इति।

(क) विप्रतिषेधे परं कार्यम् (1.4.9) सूत्र में यदि तुल्यबल विरोध हो

तो पर कार्य का विधान किया जाता है। यहाँ पर सामान्यतः पर का तात्पर्य होता है अष्टाध्यायी में पठित क्रम को लेकर पूर्व पर का ख्यापित किया गया है। आचार्य कात्यायन ने इस पर कोई भी विचार व्यक्त नहीं किया। परंतु आचार्य पतञ्जलि ने पर शब्द को इष्ट का वाचक माना। अर्थात् जैसे भी इष्ट की सिद्धि हो वैसे ही कार्य किया जाए। जैसे—अस्तीष्टवाची पर शब्दः। तद्यथा परं धाम गत इति। उदाहरण के रूप में महाभाष्य के 4.1.85.5.1.2.6.1.12.6.1.158, और 7.1.1. को भी देखा जा सकता है।

(ख) अनेक सूत्रों में आचार्य पाणिनि ने 'च' अंश का प्रयोग किया है यहाँ कुछ सूत्रों को यहाँ पर प्रस्तुत किया जा रहा है। आचार्य पतञ्जलि ने च अंश को लेकर अनेक वार्तिकों का खंडन किया है। अनुवृत्ति का प्रदर्शन किया है। जैसे 'पात्रे समितादयश्च' 2.1.48. और मयूरव्यंसकादयश्च 2.1.72 में च का प्रयोग किया गया है, तथा वहाँ पर च का अर्थ एव किया गया है। किंतु 'कर्मणि च' (2.2.14) में जो च पठित है वह इति का पर्यायवाची है। अन्य स्थलों पर भी चिंतन करके ही देखा जा सकता है।

(ग) अंत शब्द व्याख्यान—आचार्यपतञ्जलि ने अंत शब्द का दो अर्थ किया अवयव और समाप्ति, आचार्य पाणिनि ने 'हलन्ताच्च' (1.2.10) सूत्र में अंत शब्द को समीप परक माना है। परंतु व्याख्यान क्रम में उसे भी पूर्व अर्थ में ही मान लिया गया है।

(घ) बहुलम्, अन्यतरस्याम् इत्यादि का प्रयोग —पाणिनि व्याकरण को सभी शास्त्रों का परिषद् का जाता है। अतः इसमें किसी विशेष नियम के आधार पर कठिन रूप से प्रतिबंधित नहीं किया जा सकता। इसलिए आचार्य ने बहुलम्, वा तथा अन्यतरस्याम् इत्यादि का प्रयोग किया। जिसके आधार पर समस्त विधान कठिन न होकर सामान्य हो जाते हैं। जैसे—अवश्यं खल्वप्यस्माभिरिदं वक्तव्यं बहुलमन्यतरस्यामथवा एकेषामिति। सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्। तत्र नैकः पन्था शक्य आस्थातुम्। यह बात पतञ्जलि आचार्य ने 2.1.58, 6.3.14 इन सूत्रों में कहा। उपरोक्त शब्दों का व्याख्यान देते हुए जहाँ पर अवसर एवं आवश्यकता तो वहाँ पर प्रयोग करना चाहिए। पतञ्जलि ने इन दोनों शब्दों के माध्यम से अनेक प्रकार के असंभावित प्रयोगों की सिद्धि की तथा कात्यायन के अनेक वार्तिकों को भी अन्यथा सिद्ध किया।

वैदिकव्याख्यान संबंधी संगतिविसंगतियाँ

वैदिक शब्दों के विषय में आत्मनेपदी तथा परस्मैपदी संबंधी भी विसंगतियाँ प्राप्त होती है। साथ-साथ एकवचन बहुवचन संबंधी भी असंगतियाँ दृष्टिगत होती हैं। उस सभी के लिए आचार्य पाणिनि ने सरसरी दृष्टि से समाधान करने का प्रयास किया है। इसके लिए 'बहुलं छन्दसि' सूत्र को 11 बार पढ़ा तथा 'छन्दसि दृष्टानुविधिः' कह कर यथायथां साधु कहा। इसलिए व्याकरणशास्त्र को सर्ववेदपारिषद् कहा गया है। तथा समस्त विसंगतियों को दूर किया गया है। वहाँ पर अन्य विकरणों के स्थान पर अन्य विकरण अन्य प्रत्यय के स्थान पर अन्य प्रत्यय जो दृष्टिगत होते हैं उन सभी का समाधान बहुलम् पद से ही किया गया है। जैसे—

सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिद्धयति बाहुलकेन॥

आचार्य पाणिनि ने इसका बिन्दुनिर्देश किया। पाणिनि ने बहुलम् पद देकर कभी-कभी अर्थ में देकर साधु विधान किया है। इसी बहुलम् पद को आधार मानकर अन्य आचार्यो ने लिखा—

क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्यं चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति॥

(ङ) यथा न दोषस्तथास्तु—आचार्य पतञ्जलि ने सूत्रों के व्याख्यान क्रम में सर्वप्रथम सूत्र के आधार पर पदों का विश्लेषण करते हैं। तथा यदि अन्य स्थल भी प्रयोगों के दृष्टिपथ में आते हैं तो सूत्र निश्चित नियम को न मानकर अन्य उपाय का निर्देश करते हैं। इस प्रकार अनेक वार्तिकों तथा अनावश्यक वचनों का खंडन भी किया।

(च) अधिकाराः अनुवर्तेरन्। अधिकार अनुवर्तन संबंधी विचार—वदःसुपि क्यप् च (3.1.106) अनुपसर्ग सुप् उपपद रहते वद् व्यक्तयां वाचि धातु 1009 से क्यप् प्रत्यय हो चकारग्रहण सामर्थ्यात् यत् प्रत्यय भी होता है। ब्रह्मोद्यम्, ब्रह्मवाद्यम् इत्यादि रूपों की सिद्धि भी होती है। इस सूत्र में वार्तिककार ने अनुपसर्ग ग्रहण करना चाहिए ऐसा कहा। वदः सुप्यनुपसर्गग्रहणम्। परंतु भाष्यकार ने उत्तर दिया नहीं इस सूत्र में अनुपसर्ग ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि 'गदमदचरयमश्चानुपसर्गे' (3.1.100) सूत्र से अनुपसर्ग की अनुवृत्ति आती है। प्रकृतसूत्र में अनुवर्तन हो जाएगा। अनुवर्तन विधि आचार्य पतञ्जलि की अतिविचित्र

विधि है। वे कहते हैं अधिकारो नाम त्रिप्रकारः। इस प्रकार अधिकार को तीन प्रकार से प्रदर्शित किया गया है। कोई सूत्र एक देश में स्थित होकर संपूर्ण शास्त्र का प्रकाशन करता है। परिभाषा को भी अधिकार नाम से व्यवहार किया जाता है। महाभाष्य में (2.1.1) सूत्र में यह बात स्पष्ट रूप से व्यक्त की गई है। (परिभाषा पुनरेकदेशस्था सती सर्वं शास्त्रमभिज्वलयति प्रदीपवत्)।

2. द्वितीयाधिकार सूत्र में लिखित च वर्ण के आधार पर अन्य सूत्र से लाया जाता है, और अनुवृत्तिपदार्थ का रोपण किया जाता है।
3. तृतीयपक्ष में सूत्र स्वरितत्वादि प्रतिज्ञा के बल पर अनुवृत्ति आती है। जो ऊपर से अन्य सूत्रों में स्वरितत्वादि चिह्न को देखकर अन्य सूत्रों में अनुवर्तन होता है। जैसे—शास इदं हलो:सूत्र में शासः षष्ठी विभक्ति है। अवयवषष्ठी का अर्थ है। अतः स्व लिङ्गचिह्नित को देखकर शा हौ सूत्र में स्थानषष्ठी बन जाएगा। यहाँ शब्दाधिकार है। षष्ठी स्थाने योगा (1.1.49) सूत्रस्थ भाष्य। आचार्य पतञ्जलि द्वारा प्रयुक्त न्याय तथा परिभाषाओं का विशेष प्रयोग महाभाष्य में देखा जा सकता है कुछ सामान्य स्थलों का हम निर्देश देने का प्रयास करते हैं जैसे—

सत्यपि सम्भवे बाधनं भवति।
एकाचो द्वे प्रथमस्य।
शब्दनित्यत्वविचारः।
व्यपदेशिवदेकस्मिन्।
एकान्तानुबन्धाः।
सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम्।
संयोगशिष्टानामन्यतरापाय उभयोरपायः।
शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन्विधिरनित्यो भवति।
प्रत्येकं वाक्यपरिसामाप्तिः।

उपरोक्त व्याख्यान के आधार पर आचार्य पतञ्जलि की विशेषता को विश्लेषित कर पाना संभव नहीं है। तदर्थ जन्म जन्मान्तर अनुसंधान की आवश्यकता है। क्यों के महर्षियों के अनेक जन्म जन्मान्तर के पश्चात् परं ब्रह्म की कृपा प्राप्त होती है। तो अल्प समय में उनके जीवन चिंतन कृतित्व आचार व्यवहार को निरूपित करना संभव नहीं है। अतः अग्रे स्वयमेव ऊह्यम्।

उपसंहार

'परमप्रमाणं श्रुतिः' के आधार पर ही भारतीय दर्शन की नींव टिकी है। हमारे ऋषियों को स्व साधना के बल पर उस श्रुति की यथार्थता को प्रत्यक्ष कर तत्स्मृति ग्रंथों का व्याख्यान भूत ग्रंथों का लोक हितार्थ विवेचन किया।

अविभागाद्विवृत्तानामभिख्या स्वप्नवच्छ्रुतौ।
भावतत्त्वं तु विज्ञाय लिङ्गेभ्यो विहिता स्मृतिः ॥ 146 वाक्यपदीयम्

अर्थ—एक और अविभक्तया निरवयव शब्द ब्रह्म के विवर्त ऋषियों को स्वप्न की भाँति वेदज्ञान स्वयं उत्पन्न हो जाता है। उसके बाद वे ऋषि पदार्थों का सामर्थ्य समझकर वैदिक शब्दों को आधार मानकर स्मृति की रचना करते हैं।

उसी क्रम में अनादि परंपरा प्राप्त समस्त शास्त्रों का भी समय-समय पर महाशक्ति के परमानुरोध अथवा प्रेरणा से प्रेरित होकर ऋषि महर्षि महापुरुष आदि पवित्र भूमंडल पर आविर्भूत होकर ग्रंथों का, समाज का, जगत् का, अन्यान्य का उद्धार, मार्गदर्शन, सत्पथप्रदर्शनादि करते रहते हैं। जैसे—महान् स्तर पर वेदव्यास, पराशर, शुक, राजापरीक्षित, कपिल, काणाद, गौतम, जैमिनी, पतञ्जलि आदि।

प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीक-
व्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान्।
रूक्माङ्गदार्जुनवसिष्ठविभीषणादीन्
पुण्यानिमान् परमभागवतान् नमामि॥

उसी क्रम के संवर्धन में स्वामी रामकृष्णपरमहंस, स्वामी विवेकानंद, स्वामी अभेदानंद, स्वामी एकनाथ, स्वामी समर्थगुरुरामदास, इस प्रकार तत्तत्प्रदेशों के संतशिरोमणि आदि। इन संतों की यह विशेषता है कि वे आध्यात्मिक ज्ञान संपन्न एवं लौकिकज्ञान विज्ञ होते हैं। लौकिक ज्ञान विज्ञ का तात्पर्य लौकिकता की वास्तविक

सच्चाई को जानकर लौकिक होते हुए भी लोक में फसते नहीं है। अपितु जगत् को भी सर्व प्रकार उद्धार हेतु प्रेरित करते हैं। तत्संबंध में आचार्य पतञ्जलि अत्यंत ही लोकोपयोगी ऋषि हैं। जिन्होंने शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक तीन प्रकार के सतत् व्याप्त लौकिक कष्टों का परिहारोपाय बोधित किया। निदानसूत्र चरकसंहिता आदि के द्वारा प्रथम, योगदर्शन के द्वारा द्वितीय, व्याकरणमहाभाष्य द्वारा वाणी गत तृतीय का। इनकी विशेषता यह भी है कि ये शास्त्रीय सिद्धांतों में पारंपरिक तथ्यों के साथ स्वमतों का भी सम्मिश्रण किया करते हैं। जिसके कारण ही इनके व्याख्याग्रंथ को महाभाष्य कहा जाता है। जबकि अन्य व्याख्याओं को भाष्य मात्र कहा जाता है। आचार्य के ग्रंथों का वैशिष्ट्य यह है कि प्रवाह नित्यता के आधार पर सदैव योग को आधार मानकर नाना प्रकार के संस्थानों का निर्माण, जीविका का संसाधन, जीवन का जीवन आदि तथा चरकसंहिता के आधार पर चिकित्सा संसाधनों की स्थापना, भौतिक शरीर का औषधि, शल्य चिकित्सा, व्यायामादि के माध्यम से आरोग्य जीवन की उपलब्धि तथा साथ-साथ भौतिकपदार्थो के संरक्षण का चिंतन, शब्दानुशासन के माध्यम से वाणी के दोषों का परिहार अपभ्रंशों का विवेचन प्रकृति-प्रत्ययों का यथातथ्य विश्लेषण, शब्दों में दार्शनिक भावना का चिंतन, शब्दवैभेद्य शब्दों के द्वारा धर्माधर्म का प्रतिपादन, शब्द दोषों का उद्‌भाव, तथा उनके परिहार की विधि, शब्दों का सूत्र साधन के अतिरिक्त साधनों का चिंतन, सूत्रों के भेदोपभेद का निर्धारण परवर्ती पीढ़ी के लिए सरल एवं सहज भाव से प्रक्रियांश से लेकर दर्शनांश भाग की चिंतन शैली का प्रदर्शन एवं प्रयोग जो आचार्य ने दिग्दर्शित किया है वह अत्यंत ही आदरणीय है, तथा अन्य प्रशंसात्मक शब्दों का सामर्थ्य उस मंगलमय गाथा का विवरण नहीं कर सकता। आचार्य के सर्वविध ग्रंथों पर अपरमित शोंधों का संपादन किया जा चुका पुनरपि अद्यतनीय वैज्ञानिक संतुष्ट नहीं हैं। वे सतत् उस क्रिया में तत्पर ही हैं। वर्तमान में भारत देशस्थ उत्तराखंड के हरिद्वार नामक स्थान पर पतञ्जलि प्रतिष्ठान की स्थापना स्वामी रामदेव जी के द्वारा की गई है। जो कि महर्षि के सर्व प्रकार चिंतनों पर चिंतन कर रहा है। जहाँ वैदेशिक एवं स्वदेशी समस्त विद्वान् वैज्ञानिक चिंतक साधक सरस्वती समुपासक कार्यरत हैं। यह परमाचार्य की ही महिमा है। आचार्य का नाम मंगलमय, काम मंगलमय चर्चा मंगलमय अर्थात् यदि जीवन की शैली जीवन का आदर्श जीवन का उद्देश्य आचार्य पतञ्जलि के अंशांश में भी हो तो वह भी जागतिक एवं आध्यात्मिक दोनों पक्षों से अमरत्व को प्राप्त करेगा। आचार्य का जीवन सैद्धांतिक एवं व्यवहारिक दोनों पक्षों

से परिपूर्ण है। प्रस्तुत विनिबंध में नाना ऐतिह्यमूलक ग्रंथों का तथा पारंपरिक जनश्रुतियों का संकलन किया गया है। क्योंकि किसी भी ऋषि महर्षि के जीवन चरित्र का निरूपण अत्यंत कठिन है अपितु उनके शास्त्रों का आनंद लेने में काठिन्य नहीं है।

सहायक ग्रंथ सूची

1. पाणिनि—अष्टाध्यायी डॉ. नरेश झा चौखंभा सुरभारती, वाराणसी 2006
2. महाभाष्यम्, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थानम्, नव देहली
3. वाक्यपदीयम् ब्रह्मकाण्डम् सूर्यनारायण शुक्ल चौखंभासंस्कृतसंस्थान 2016
4. संस्कृत व्याकरण—शास्त्र का इतिहास युधिष्ठिर मीमांसक रामलालकपूरप्रकाशन हरियाणा 2000
5. पाणिनि कात्यायन पतञ्जलि, माधव कृष्ण शर्मा लालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रिय संस्कृतविद्यापीठ देहली 2009
6. वैयाकरणसिद्धांतकौमुदी मोतीलालबनारसीदास, वाराणसी 2010
7. इंटर नेट का कुछ सहयोग।
8. अन्य जन श्रुतियाँ

परिशिष्ट

प्रस्तोता

डॉ. सुधाकर मिश्र
सहायक आचार्य
व्याकरण विभाग
श्री सीताराम वैदिक आदर्श संस्कृत महाविद्यालय, कोलकाता–700035 पश्चिम बङ्ग

महर्षि पतंजलि यद्यपि सर्व शास्त्रज्ञ हैं। तथापि प्रकृत विषय वैयाकरण पतंजलि है इसलिए शब्दानुशासन की दृष्टि से अनुशीलन की आवश्यकता है। उत्तरोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम् इस परिभाषा से यह स्वतः सिद्ध होता है कि महाभाष्यकार उसी परम्परा के चरम ऋषि के रूप में स्वीकृत हैं। महर्षि पतंजलि ने महामुनि पाणिनि के सूत्रों का पद पदार्थ विवेचन पूर्वक सूत्र सूत्रार्थ निरूपण तदनुरूप उदाहरण आदि का उपस्थापन किया। आवश्यकतानुसार सूत्रों का खण्डन एवं मण्डन दोनों ही किया है। साथ साथ आचार्य कात्यायन के वार्तिकों की आवश्यकता एवं अन्यथा सिद्धत्व का विवेचन किया। उपरोक्त विषयों को आधार मानकर विशालाकृति विशिष्ट ग्रन्थ 85 आह्निक आबद्ध होकर स्वयं हि महर्षि की गरिमा का प्रदर्शन करता है। महर्षि ने अपने महाभाष्य ग्रन्थ से जन जन में विद्यमान अनेक सन्देहो एवं असत् विचारों को उच्छिन्न कर दिया। ग्रन्थ की लेखन शैली, वैचारिक प्रतिच्छाया, तथ्यपरिशीलन की जो दिशा एवं दशा है वह अति अनुकरणीय एवं पालन करने योग्य है। आचार्य नें महाभाष्य में अति लौकिक एवं परम शास्त्रीय दोनों प्रकार के चिन्तनों का चित्रण किया है। आचार्य का चिन्तन कल्पनातीत है। महर्षि ने सूत्रों के पदकृत्य काल में सामान्य चिन्तन से परे पदार्थो का प्रकाशन, समासादि का प्रदर्शन, अर्थ का अन्यार्थ, अन्यार्थ का स्वार्थ जो समाज के सम्प्रक्ष दिग् दर्शित किया वह अपूर्वत्व को प्रस्तुत करता है।

सुधाकर मिश्र (1982) अपनी प्रारम्भिक विद्यालीय शिक्षा ग्राम स्तर से प्राप्त कर, आदरणीय पिता डॉ. शेषनाराण मिश्र जी की छत्रछाया में काशी की पाण्डित्य परम्परा की धारा में प्रोफेसर श्री रामयत्न शुक्ल से व्याकरण शास्त्रों का गाम्भीर्य पूर्ण अध्ययन कर, कुछ दिन काशीस्थ महाविद्यालयों में पारम्परिक शास्त्रों का अध्यापन कार्य भी किया। परन्तु भाग्यतन्तु अन्नजल के तारतम्य को परिपूर्ण करते हुए केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय सम्बद्ध श्री सीताराम वैदिक आदर्श संस्कृत महाविद्यालयस्थ व्याकरण विभाग में सेवा का अवसर प्राप्त करा दिया। जो कि निरन्तर गतिमान है। लेखक अनेक ग्रन्थों एवं पुस्तकों का लेखन एवं सम्पादन कार्य भी किया है, साथ साथ अनेक लेखों का प्रणयन भी किया है, तथा अगे निरन्तर चलमान है।

साहित्य अकादेमी

www.sahitya-akademi.gov.in

₹ 50/-